પ્રેમચંદ

साहित्य का उद्देश्य

प्रेमचंद

हंस प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रकाशक : हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	
मुद्रक : पियरलेस प्रिन्टर्स, इलाहाबाद	
नवीन संस्करण : अक्टूबर १९८३	

मूल्य : पन्द्रह रुपये

अनुक्रम

यह संस्करण

'साहित्य का उद्देश्य' का पिछला संस्करण समाप्त हुए काफी समय हो गया।

'विविध प्रसंग' के तीन खंड प्रकाशित हो जाने पर, जिनमें प्रेमचन्द के संपूर्ण लेख संगृहीत हैं, 'साहित्य का उद्देश्य' के नये संस्करण की उपयोगिता भी संदिग्ध हो गयी। पर इधर बहुत दिनों से उसकी माँग विद्यार्थियों और शिक्षण संस्थाओं की ओर से हमारे पास पहुँचती रहती है। फलतः यह नया संस्करण प्रस्तुत है। वर्तमान संस्करण महत्वपूर्ण संशोधन और परि-वर्द्धन के साथ प्रकाशित किया जा रहा है, कुछ लेख हटा दिये गये हैं और कुछ अधिक महत्वपूर्ण लेख जोड़ दिये गये हैं। हमारा विश्वास है कि अब यह पुस्तक पहले से भी अधिक सर्वांगपूर्ण है, न केवल विद्यार्थियों के लिए बल्कि अन्य पाठकों के लिए भी, जो इस महान् साहित्यकार के साहित्य-संबंधी विचारों से परिचित होना चाहते हैं।

— प्रकाशक

साहित्य का उद्देश्य

साहित्य का उद्देश्य

सज्जनो,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अंजुमनों में अब तक आमतौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्त्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी? हमारी भाषा के 'पायनियरों' ने — रास्ता साफ करनेवालों ने — हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हों तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्योंकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमें आरम्भ में 'बागोबहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गयी है कि उसमें शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोलचाल की भी होती है और लिखने की भी। बोलचाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के जमाने में भी मौजूद थी पर

उन्होंने जिस भाषा की दाग बेल डाली, वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोलचाल से हम अपने करीब के लोगों पर अपने विचार प्रकट करते हैं — अपने हर्ष-शोक के भावों का चित्र खींचते हैं। साहित्यकार वही काम लेखनी-द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओं की परिधि बहुत विस्तृत होती है, और अगर उसके बयान में सचाई है, तो शताब्दियों और युगों तक उसकी रचनाएँ हृदयों को प्रभावित करती रहती हैं।

परन्तु मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाय, वह सब का सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गयी हों। तिलस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों के किसी जमाने में हम भले ही प्रभावित हुए हों; पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है; परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहें, लगा सकते हैं — चिड़े की कहानी और गुलोबुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गयी है; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मन-

माने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख़याल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरञ्जन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को। इन्हीं शृङ्गारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नयी शब्द-योजना, नयी कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था — चाहे वह वस्तुस्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना और क़फ़स, बर्क़ और ख़िरमन की कल्पनाएँ, विरह दशाओं के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस खूबी से दिखायी जाती थीं कि सुननेवाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोकप्रिय है, इसे हम और आप खूब जानते हैं।

निस्सन्देह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृङ्गारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो— जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार और भाव सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? शृङ्गारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू — कविता में दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोक-रुचि थी, उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और कद्रदानी की हवस

तो हर एक को होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की कद्रदानी रईसों और अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है ? हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा हो, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा हो और शृङ्गारिक भावों का प्रतिबिम्ब बन गया हो, तो समझ लीजिये कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा ; उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गयी है।

परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरञ्जन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता ; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है ; किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है — केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि

और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुजरती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दर्जे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो — जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।

पुराने जमाने में समाज की लगाम मजहब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था — पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य-प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौन्दर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौन्दर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिये कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वञ्चित है — चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरञ्जना से काम नहीं लेता, अपनो ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है, जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायगी और वह आपके खिलाफ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्ति बनाता है पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यञ्जकता भी — वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौके पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है। अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है, जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तुस्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासम्भव प्रत्यक्ष अनुभवों की सोमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही सन्तोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं; बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच के मनुष्य हैं, और लेखक ने यथासम्भव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है क्योंकि कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है: उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रों की जवान से वह खुद बोल रहा है।

इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभावित नहीं

होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना कौशल इसी में है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे — उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनंद और बल मिले।

सुधार को जिस अवस्था में वह हो, उससे अच्छी अवस्था आने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममें जो कमजोरियाँ हैं वह मर्ज की तरह हमसे चिमटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह सन्तुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से सन्तुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसीलिए हम साधु-फकीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं।

और हमारी सारी कमजोरियों की जिम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम-भाव से वञ्चित होने पर है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमजोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से

प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है ?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु ? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक-सा मालूम होता है क्योंकि सौन्दर्य के विषय में हमारे मन में कोई शंका-सन्देह नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, ऊषा और सन्ध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर सुगन्धि-भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल-कल निनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं — यही सौन्दर्य है।

इन दृश्यों को देखकर हमारा अन्तःकरण क्यों खिल उठता है ? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वरसाम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात में संयोग से हुई है; इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य तथा सामंजस्य की खोज में रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और ममता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता है और जीवन है; जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है — द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव, विरोध, प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है, वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे सम्भव होगा ? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमण्डल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता-दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही ये सारी मानसिक और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है। दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-संघ', यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका

स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया में जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे? क्यों न ऐसे सामान इकठ्ठा किये जायँ कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाय? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में जोर और सचाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही उसकी कला-कुशलता का रहस्य है। पर शायद इस विशेषता पर जोर देने की जरूरत इसलिए पड़ी की प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असन्दिग्ध अवनति मान सकता है; इसलिए कि यह साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला केवल मनोभावों के व्यक्तिकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममें दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अन्तर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता

का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं, अगर वे हममें हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवकों की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौन्दर्य-प्रेम पर कोई असर न पड़ा और पड़ा भी तो केवल इतना ही कि हम उनकी विरह-व्यथा पर रोयें, तो इससे हममें कौन-सी मानसिक या रुचि सम्बन्धी गति पैदा हुई? इन बातों से किसी जमाने में हमें भावावेश हो जाता रहा हो तो हो जाता रहा हो पर आज के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का अब जमाना नहीं रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का सन्देश हो। अब तो हज़रते इक़बाल के साथ हम भी कहते हैं :

रम्ज़े हयात जोई जुज़ दर तपिश नयाब,
दरकुलजुम आरमीदन नंगस्त आबे जूरा।
ब आशियाँ न नशीनम ज़े लज्ज़ते परवाज़,
गहे बशाखे गुलम गहे बरलबे जूयम।

[अर्थात् अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है, तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलने का — सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने के लिए मैं घोंसले में कभी बैठता नहीं, — कभी फूलों की टहनियों पर, तो कभी नदी-तट पर होता हूँ।]

अतः हमारे पथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप में उपयोगी है और न समुदाय-रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुञ्जी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं,

जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है, और दुःख भी। आसमान पर छायी लालिमा निस्सन्देह बड़ा सुन्दर दृश्य है; परन्तु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय, तो वह हमें प्रसन्नता देनेवाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है। प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है, और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरक्षित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कल गान सुनता है तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है; परन्तु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।

बन्धुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही, आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्म प्रवर्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बन्धनों से इस स्वप्न को सच बनाने का सतत किन्तु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद आदि सभी पैगम्बरों और धर्म प्रवर्तकों ने नीति की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही; पर किसी को सफलता न मिली और छोटे-बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में आज प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

'आजमाये को आजमाना मूर्खता है', इस कहावत के अनुसार यदि

हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायँ? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए कोई आदर्श ही बाकी न रह जायगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाय। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरम्भ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं, जिसकी परिणति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सचाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान में कदम रखना है। हमें एक ऐसे नये संघटन को सर्वाङ्गपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले। हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि से बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था, तो इनका मजाक उड़ाने के लिए, ग्रामवासी की देहाती वेश-भूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लिए। उसका शीन-काफ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य-विद्रूप का स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं,—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द योजना का, भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है,—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनारा-

कशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है — उस बच्चोंवाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे होंठों, कपोलों और भौंहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है, — उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होंठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ ?

पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होंठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होंठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का। उसे तो इक़बाल के साथ कहना होगा —

अज़ दस्ते जुनूने मन जिब्रील ज़बूँ सैदे,
यज़दाँ बकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

[अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमन्द में तू खुदा को ही फाँस लाये ?]

अथवा

चूं मौज साजे साज़ूद बजूदम जे सैल बेपरवास्त,
गुमां मबर कि दरी बहर साहिले जोयम।

[अर्थात् तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं क़िनारा ढूंढ़ रहा हूँ।]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी, जब हमारा सौंदर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उनकी उड़ान के लिए केवल बाग की चहारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायु-मण्डल होगा जो सारे भूमण्डल को घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायँगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायँगे, बल्कि उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है — उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।

हमें अकसर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं, — अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है, और बड़े-बड़े अमीर और मन्त्रि-मंडल के सदस्य उनसे मिलने में अपना गौरव समझते हैं; परन्तु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में पड़ा हुआ है। यदि साहित्य ने अमीरों का याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रान्तियों से बेखबर हो जो समाज में हो रही हैं — अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई कैद नहीं रही, जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं, आध्यात्मिक उच्चता ही काफी है, तो महात्मा लोग दर-दर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी निकल आये।

इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता;

पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को वढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बननेवालों के लिए कड़ी शर्तें लगायी हैं और उनकी मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और भागवत सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी हैं; मगर आज तो हिन्दी में साहित्यकार के लिए प्रवृत्तिमात्र अलम् समझी जाती है, और किसी प्रकार की तैयारी को उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसका विशेष अंग बन गयी हैं और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अंग-रूप में देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकुमत करे, उसे अपने स्वार्थ-साधन का औजार बनाये, मानो उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममें से जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियाँ मिली हैं, उन पर समाज के प्रति उतनी ही जिम्मेदारी भी है। हम उस मानसिक पूंजीपति को पूजा के योग्य समझेंगे, जो समाज के पैसे से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे स्वार्थ साधन में लगाता है। समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसन्द न करेगा। उस मानसिक पूंजीपति का कर्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निजी लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे — अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में प्रवेश क्यों न करे, उसे उस विभाग से विशेषतः और सब विभागों से सामान्यतः परिचय हो।

अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनों की रिपोर्ट पढ़ें, तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं है, जिस पर उसमें विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञानसीमा को देखते हैं तो हमें अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए आशुबुद्धि और तेज कलम काफी है। पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मानदण्ड ऊँचा करना होगा जिसमें वह समाज की अधिक मूल्यवान् सेवा कर सके, जिसमें समाज में उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही सन्तोष न करें, किन्तु खुद भी उस पूंजी को बढ़ायें।

हमें अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेने चाहिए और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए। हम जिस आर्थिक अवस्था में जिन्दगी बिता रहे हैं, उसमें यह यह काम कठिन अवश्य है, पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिए। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुँच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायँगे, तो जमीन पर पड़े रहने से कहीं अच्छा है। अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें।

जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ हैं। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यों सताये? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है, वही हमारा पुरस्कार — हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो? दूसरों से ज्यादा आराम के साथ

रहने की इच्छा भी क्यों सताये ? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करायें ? हम तो समाज के झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं — उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इकबाल के साथ कहता है —

मर्दुम आज़ादम आगूना रायूरम कि मरा,
मीतवां कुश्तव येक जामे जुलाले दीगरां।

[अर्थात् मैं आजाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्तों के साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पसन्द नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का सन्देशवाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने-आप सरल हो जाती है। भाव-सौन्दर्य बनाव-सिंगार से वेपरवाही ही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुंह जोहने-वाला है, वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है; जो जन-साधारण का है वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायु-मण्डल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियम-पूर्वक चर्चा हो, निबंध पढ़े जायँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायु-मंडल तैयार होगा। तभी साहित्य में नये युग का आविर्भाव होगा।

हम हर एक सूबे में, हर एक जबान में, ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं, जिसमें हर एक भाषा में हम अपना सन्देश पहुँचा सकें। यह समझना भूल होगी कि यह हमारी कोई नयी कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियों के हृदयों में सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान हैं। भारत

की हर एक भाषा में इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँकुए भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना एवं उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारों में कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है; पर हम उसकी ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी, कर्माभाव ही उसका गुण था क्योंकि अकसर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे तो इससे कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ पियो मौज करो' का कायल हो। ऐसा स्वच्छन्द-चारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है; पर धार्मिकता का अभिमान रखनेवाले के लिए इसकी संभावना नहीं।

जो हो, जब तक साहित्य का काम केवल मनबहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तब तक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका ग़म दूसरे खाते थे। मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो — जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।*



---

* लखनऊ में होनेवाले प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन १९३६ में सभापति आसन से दिया गया भाषण।

जीवन में साहित्य का स्थान

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है; इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए क़ानून हैं जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द ही की खोज में पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न-द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में। लेकिन साहित्य का आनन्द, इस आनंन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है। उसी आनन्द को दर्शाना, वही आनन्द उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गये हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स में भी कोई आनन्द है? अगर ऐसा न होगा, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता। हाँ, है। वीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान

का जो वर्णन किया है, वह कितना वीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले माँस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है; लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दर है, क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आनेवाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हर एक रस में सुन्दर खोजता है — राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अंदर, उषा की लाली में, सावन-भादों की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर मूर्तिमान दिखाई देता है उतना महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध। अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह शृंगार है। कोई रस साहित्यिक-दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है जो शृंगार-विहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल वाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्‌भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव रहें, जो इस अद्‌भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ-बुद्धि से। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक

दृश्य घटना या कांड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नज़रों से देख सकते हैं। हिम से ढँके हुए पर्वत पर उषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसन्धान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचन्द्र शवरी के जूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यों नाना व्यंजनों से रुचिकर समझते हैं? इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है? उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त ज़गत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गयी है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महान् पुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गये हैं, जो जड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइये देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन में भी यह सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं; क्योंकि वह भी तो पशु है। पर इनके उपरान्त कुछ और भी होता है। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल मे बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वांछनीय होती है, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहङ्कार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्संदेह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायँगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँटकर कहना — तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड़ लेंगे — अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है, कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ हैं उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाय

कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भाँति जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है। यही कारण है, कि हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रंथों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनंद की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक-कथाएँ, तौरेह, कुरान, इंजील ये सभी मानवी कथाओ के संग्रहमात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं! वही कथाएँ धर्मों की आत्मा हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अकारण ही मानव-जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देश पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानवजाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करने?

आदिकाल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं; लेकिन साहित्य-जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा

जाती है। मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे; पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उनके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बन्धु-बांधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते; इसलिए कि हम उनके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं, उनका मन हमारी नजरों के समाने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से विचर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है; पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं; पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव हृदय में तबदीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह

अधिकृत हैं, जैसे आदिकवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनन्त तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है, महाभारत का समय भी अतीत हो गया; पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोई इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव के बुरे हैं, वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल लेना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें पर यह असम्भव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है — हमारा आशय दिल्ली में कतलाम करानेवाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कतलाम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कतलाम को बन्द करने का हुक्म दिया था? दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शान्त होता और दिल्लीवालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँहलगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा —

'कसे न मांद कि दीगरब तेग़े नाज़ कुशी।
मगर कि ज़िंदा कुनी खल्क रा व बाज़ कुशी।'

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को ज़िन्दा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृंगार-विषयक शेर है; पर इसे सुनकर कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कतलाम तुरन्त बन्द करा दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अँग्रेज मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर, नेपोलियन के सामने लाये और उससे पूछा — तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा — इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखों में आँसू छलछला आये। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंगलैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देव तुल्य है। जमाने के छल प्रपंच और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है — उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है — साहित्य। योरप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ संघर्ष पायेंगे। कहीं खूनी कांडों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही

है। यहाँ तक कि अब किसी यूरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नयी सभ्यता का जीवन डेढ़ सौ साल से अधिक नहीं पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है। पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है, वह ठीक रास्ता नहीं है; पर वह इतनी दूर आ चुका है, कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपती होकर, जायदाद खरीद कर, कम्पनियों में हिस्से लेकर, और ऊँची सोसायटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुई। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते; पर एक धन्वन्तरि के होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अंधाधुंध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने

लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की जरूरत है; पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है; पर साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिरानेवाला इन्जीनियर नहीं कहलाता। इन्जीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्मसंयम की आवश्यकता है, क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुरसी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौन्दर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता तो इसका कारण यह है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी।

●

साहित्य का आधार

साहित्य का सम्बन्ध बुद्धि से उतना नहीं जितना भावों से है। बुद्धि के लिए दर्शन है, विज्ञान है, नीति है। भावों के लिए कविता है, उपन्यास है, गद्यकाव्य है।

आलोचना भी साहित्य का एक अंग मानी जाती है, इसलिए कि वह साहित्य को अपनी सीमा के अन्दर रखने की व्यवस्था करती है। साहित्य में जब कोई ऐसी वस्तु सम्मिलित हो जाती है, जो उसके रस प्रवाह में बाधक होती है, तो वहीं साहित्य में दोष का प्रवेश हो जाता है। उसी तरह जैसे संगीत में कोई बेसुरी ध्वनि उसे दूषित कर देती है। बुद्धि और मनोभाव का भेद काल्पनिक ही समझना चाहिए। आत्मा में विचार, तुलना, निर्णय का अंश, बुद्धि और प्रेम, भक्ति, आनन्द, कृतज्ञता आदि का अंश भाव है। ईर्ष्या, दम्भ, द्वेष, मत्सर आदि मनोविकार हैं। साहित्य का इनसे इतना ही प्रयोजन है कि वह भावों को तीव्र और आनन्दवर्द्धक बनाने के लिए इनकी सहायता लेता है, उसी तरह, जैसे कोई कारीगर श्वेत को और श्वेत बनाने के लिए श्याम की सहायता लेता है। हमारे सत्य भावों का प्रकाश ही आनन्द है। असत्य भावों में तो दुःख का ही अनुभव होता है। हो सकता है कि किसी व्यक्ति को असत्य भावों में भी आनन्द का अनुभव हो। हिंसा करके, या किसी के धन का अपहरण करके या अपने स्वार्थ के लिए किसी का अहित करके भी कुछ लोगों को आनन्द प्राप्त होता है, लेकिन यह मन की स्वाभाविक वृत्ति नहीं है। चोर को प्रकाश से अँधेरा कहीं अधिक प्रिय है। इससे प्रकाश की श्रेष्ठता में कोई

बाधा नहीं पड़ती। हमारा जैसा मानसिक संगठन है, उसमें असत्य भावों के प्रति घृणामय दया ही का उदय होता है। जिन भावों द्वारा हम अपने को दूसरों में मिला सकते हैं, वही सत्य भाव हैं, प्रेम हमें अन्य वस्तुओं से मिलाता है, अहंकार पृथक् करता है। जिसमें अहंकार की मात्रा अधिक है वह दूसरों से कैसे मिलेगा? अतएव प्रेम सत्य भाव है, अहंकार असत्य भाव है। प्रकृति से मेल रखने में ही जीवन है। जिसके प्रेम की परिधि जितनी ही विस्तृत है, उसका जीवन उतना ही महान है।

जब साहित्य की सृष्टि भावोत्कर्ष होती है, तो यह अनिवार्य है कि उसका कोई आधार हो। हमारे अन्तःकरण का सामंजस्य जब तक बाहर के पदार्थों या वस्तुओं या प्राणियों से न होगा, जागृति हो ही नहीं सकती। भक्ति करने के लिए कोई प्रत्यक्ष वस्तु चाहिए। दया करने के लिए भी किसी पात्र की आवश्यकता है। धैर्य और साहस के लिए भी किसी सहारे की जरूरत है। तात्पर्य यह है कि हमारे भावों को जगाने के लिए उनका बाहर की वस्तुओं से सामंजस्य होना चाहिए। अगर बाह्य प्रकृति का हमारे ऊपर कोई असर न पड़े अगर हम किसी को पुत्र शोक में विलाप करते देखकर आँसू की चार बूंदें नहीं गिरा सकते, अगर हम किसी आनन्दोत्सव में मिलकर आनन्दित नहीं हो सकते, तो यह समझना चाहिए कि हम निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं। उस दशा के लिए साहित्य का कोई मूल्य नहीं। साहित्यकार तो वही हो सकता है जो दुनिया के सुख-दुःख से सुखी या दुखी हो सके और दूसरों में सुख या दुःख पैदा कर सके। स्वयं दुःख अनुभव कर लेना काफी नहीं है। कलाकार में उसे प्रकट करने का सामर्थ्य होना चाहिए। लेकिन परिस्थितियाँ मनुष्य को भिन्न दिशाओं में डालती हैं। मनुष्य मात्र में भावों की समानता होते हुए भी परिस्थितियों में भेद होता ही है। हमें तो मिठास से काम है, चाहे वह अब ऊख में मिले या खजूर में या चुकन्दर में। अगर हम किसानों में रहते हैं या हमें उनके साथ रहने के अवसर मिले हैं, तो स्वभावतः हम उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगते हैं और उससे उसी मात्रा में प्रभावित होते हैं जितनी हमारे भावों में गहराई है। इसी तरह

अन्य परिस्थितियों को भी समझना चाहिए। अगर इसका अर्थ यह लगाया जाय कि अमुक प्राणी किसानों का या मजदूरों का या किसी आन्दोलन का प्रोपेगेंडा करता है, तो यह अन्याय है। साहित्य और प्रोपेगेंडा में क्या अन्तर है, इसे यहाँ प्रकट कर देना जरूरी मालूम होता है। प्रोपेगेंडा में अगर आत्म-विज्ञापन न भी हो तो एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने की वह उत्सुकता होती है जो साधनों की परवाह नहीं करती। साहित्य शीतल, मन्द समीर है, जो सभी को शीतल और आनंदित करती है। प्रोपेगेंडा आँधी है, जो आँखों में धूल झोंकती है, हरे-भरे वृक्षों को उखाड़ फेंकती है और झोपड़े तथा महल दोनों को ही हिला देतो है। वह रस-विहीन होने के कारण आनन्द की वस्तु नहीं। लेकिन यदि कोई चतुर कलाकार उसमें सौन्दर्य और रस भर सके, तो वह प्रोपेगेंडा की चीज न होकर सद्साहित्य की वस्तु बन जाती है। "अंकिल टॉम्स केबिन" दास प्रथा के विरुद्ध प्रोपेगेंडा है, लेकिन कैसा प्रोपेगेंडा है? जिसके एक-एक शब्द में रस भरा हुआ है। इसलिए वह प्रोपागेंडा की चोज नहीं रहा। बर्नार्ड शा के ड्रामे, वेल्स के उपन्यास, गाल्सवर्दी के ड्रामे और उपन्यास, डिकेन्स, मेरी कारेली, रोमां रोलां, टाल्स्टाय, दास्तावेस्की, मैक्सिम गोर्की, सिंक्लेयर, कहाँ तक गिनायें। इन सभी की रचनाओं में प्रोपेगेंडा और साहित्य का समिश्रण है। जितना शुष्क विषय-प्रतिपादन है वह प्रोपेगेंडा है, जितनी सौन्दर्य की अनुभूति है, वह सच्चा साहित्य है। हम इसलिए किसी कलाकार से जवाब तलब नहीं कर सकते कि वह अमुक प्रसंग से ही क्यों अनुराग रखता है। यह उसकी रुचि या परिस्थितियों से पैदा हुई परवशता है। हमारे लिए तो उसकी परीक्षा की एक ही कसौटी है : वह हमें सत्य और सुन्दर के समीप ले जाता है या नहीं? यदि ले जाता है तो वह साहित्य है, नहीं ले जाता तो प्रोपेगेंडा या उससे भी निकृष्ट है।

हम अक़सर किसी लेखक की आलोचना करते समय अपनी रुचि से पराभूत हो जाते हैं। ओह, इस लेखक की रचनाएँ कौड़ी काम की नहीं, यह तो प्रोपेगेन्डिस्ट है, यह जो कुछ लिखता है, किसी उद्देश्य से लिखता है, इसके यहाँ विचारों का दारिद्रय है। इसकी रचनाओं में स्वानुभूत

दर्शन नहीं इत्यादि। हमें किसी लेखक के विषय में अपनी राय रखने का अधिकार है, इसी तरह औरों को भी है, लेकिन सद्साहित्य की परख वही है जिसका हम उल्लेख कर आये हैं। उसके सिवा कोई दूसरी कसौटी हो ही नहीं सकती। लेखक का एक-एक शब्द दर्शन में डूबा हो, एक-एक वाक्य में विचार भरे हों, लेकिन उसे हम उस वक्त तक सद्साहित्य नहीं कह सकते, जब तक उसमें रस का स्रोत न बहता हो, उसमें भावों का उत्कर्ष न हो, वह हमें सत्य की ओर न ले जाता हो, अर्थात् .... बाह्य प्रकृति से हमारा मेल न कराता हो। केवल विचार और दर्शन का आधार लेकर वह दर्शन का शुष्क ग्रन्थ हो सकता है, सरस साहित्य नहीं हो सकता। जिस तरह किसी आंदोलन या किसी सामाजिक अत्याचार के पक्ष या विपक्ष में लिखा गया रसहीन साहित्य प्रोपेगेंडा है, उसी तरह किसी तात्विक विचार या अनुभूत दर्शन से भरी हुई रचना भी प्रोपेगेंडा है। साहित्य जहाँ रसों से पृथक् हुआ, वहीं वह साहित्य के पद से गिर जाता है और प्रोपेगेंडा के क्षेत्र में जा पहुँचता है। आस्कर वाइल्ड या शा आदि की रचनाएँ जहाँ तक विचार प्रधान हों, वहाँ तक रसहीन हैं। हम रामायण को इसलिए सद्साहित्य नहीं समझते कि उसमें विचार या दर्शन भरा हुआ है, बल्कि इसलिए कि उसका एक-एक अक्षर सौन्दर्य के रस में डूबा हुआ है, इसलिए कि उसमें त्याग और प्रेम और बन्धुत्व और मैत्री और साहस आदि मनोभावों की पूर्णता का रूप दिखानेवाले चरित्र हैं। हमारी आत्मा अपने अन्दर जिस अपूर्णता का अनुभव करती है, उसकी पूर्णता को पाकर वह मानो अपने को पा जाती है और यही उसके आनन्द की चरम सीमा है।

इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि बहुधा एक लेखक की कलम से जो चीज़ प्रोपेगेंडा होकर निकलती है, वही दूसरे लेखक की कलम से सद्साहित्य बन जाती है। बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर मुनहसर है। हम जो कुछ लिखते हैं, यदि उसमें रहते भी हैं, तो हमारा शुष्क विचार भी अपने अन्दर आत्म प्रकाश का सन्देश रखता है और पाठक को उसमें आनन्द की प्राप्ति होती है। वह श्रद्धा जो हममें है,

मानो अपना कुछ अंश हमारे लेखों में भी डाल देती है। एक ऐसा लेखक जो विश्वबन्धुत्व की दुहाई देता हो, पर तुच्छ स्वार्थ के लिए लड़ने पर कमर कस लेता हो, कभी अपने ऊँचे आदर्श की सत्यता से हमें प्रभावित नहीं कर सकता। उसकी रचना में तो विश्वबन्धुत्व की गन्ध आते ही हम ऊब जाते हैं, हमें उसमें कृत्रिमता की गन्ध आती है और पाठक सब कुछ क्षमा कर सकता है, लेखक में बनावट या दिखावा या प्रशंसा की लालसा को क्षमा नहीं कर सकता। हाँ, अगर उसे लेखक में कुछ श्रद्धा है, तो वह उसके दर्शन, विचार, उपदेश, शिक्षा सभी असाहित्यिक प्रसंगों में सौन्दर्य का आभास पाता है। अतएव बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर निर्भर है। लेकिन हम लेखक से परिचित हों या न हों, अगर वह सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है, तो हम उसकी रचना में आनन्द प्राप्त करने से अपने को रोक नहीं सकते। साहित्य का आधार भावों का सौन्दर्य है, इससे परे जो कुछ है वह साहित्य नहीं कहा जा सकता।

कहानी-कला : १

गल्प, आख्यायिका या छोटी कहानी लिखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। धर्मग्रन्थों में जो दृष्टान्त भरे पड़े हैं, वे छोटी कहानियाँ ही हैं; पर कितनी उच्चकोटि की। महाभारत, उपनिषद्, बुद्ध-जातक, बाइबिल, सभी सद्ग्रंथों में जन-शिक्षा का यही साधन उपयुक्त समझा गया है। ज्ञान और तत्व की बातें इतनी सरल रीति से और क्योंकर समझायी जातीं? किन्तु प्राचीन ऋषि इन दृष्टान्तों द्वारा केवल आध्यात्मिक और नैतिक तत्वों का निरूपण करते थे। उनका अभिप्राय केवल मनोरञ्जन न होता था। सद्ग्रंथों के रूपकों और बाइबिल के Parables देखकर तो यही कहना पड़ता है कि अगले जो कुछ कर गये, वह हमारी शक्ति से बाहर है, कितनी विशुद्ध कल्पना, कितना मौलिक निरूपण, कितनी ओजस्विनी रचना-शैली है कि उसे देखकर वर्तमान साहित्यिक की बुद्धि चकरा जाती है। आजकल आख्यायिका का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। उसमें प्रेम की कहानियाँ, जासूसी किस्से, भ्रमण-वृत्तान्त, अद्भुत घटना, विज्ञान की बातें, यहाँ तक कि मित्रों की गप-शप भी शामिल कर दी जाती हैं। एक अँगरेजी समालोचक के मतानुसार तो कोई रचना, जो पन्द्रह मिनटों में पढ़ी जा सके, गल्प कही जा सकती है। और तो और, उसका यथार्थ उद्देश्य इतना अनिश्चित हो गया है कि उसमें किसी प्रकार का उपदेश होना दूषण समझा जाने लगा है। वह कहानी सबसे नाकिस समझी जाती है, जिसमें उपदेश की छाया भी पड़ जाय।

आख्यायिकाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रथा धर्मग्रंथों ही में नहीं,

साहित्य-ग्रंथों में भी प्रचलित थी। कथा-सरित्सागर इसका उदाहरण है। इसके पश्चात् बहुत-सी आख्यायिकाओं को एक शृङ्खला में बाँधने की प्रथा चली। बैताल-पचीसी और सिंहासन-बत्तीसी इसी श्रेणी की पुस्तकें हैं। उनमें कितनी नैतिक और धार्मिक समस्याएँ हल की गयी हैं, यह उन लोगों से छिपा नहीं है, जिन्होंने उनका अध्ययन किया है। अरबी में सहस्र-रजनी-चरित्र इसी भाँति का अद्भुत संग्रह है ; किन्तु उसमें किसी प्रकार का उपदेश देने की चेष्टा नहीं की गयी है। उसमें सभी रसों का समावेश है, पर अद्भुत रस ही की प्रधानता है, और अद्भुत रस में उपदेश की गुन्जाइश नहीं रहती। कदाचित् उसी आदर्श को लेकर इस देश में शुक बहत्तरी के ढंग की कथाएँ रची गयीं, जिनमें स्त्रियों की बेवफाई का राग अलापा गया है। यूनान में हकीम ईसप ने एक नया ही ढंग निकाला। उन्होंने पशुपक्षियों की कहानियों द्वारा उपदेश देने का आविष्कार किया।

मध्यकाल काव्य और नाटक-रचना का काल था; आख्यायिकाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। उस समय कहीं तो भक्ति-काव्य की प्रधानता रही, कहीं राजाओं के कीर्तिगान की। हाँ, शेखसादी ने फारसी में गुलिस्ताँ-बोस्ताँ की रचना करके आख्यायिकाओं की मर्यादा रखी। यह उपदेश-कुसुम इतना मनोहर और सुन्दर है कि चिरकाल तक प्रेमियों के हृदय इसके सुगन्ध से रञ्जित होते रहेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में फिर आख्यायिकाओं की ओर साहित्यकारों की प्रवृत्ति हुई ; और तभी से सभ्य-साहित्य में इनका विशेष महत्व है। योरप की सभी भाषाओं में गल्पों का यथेष्ट प्रचार है ; पर मेरे विचार में फ्रान्स और रूस के साहित्य में जितनी उच्चकोटि की गल्पें पायी जाती हैं, उतनी अन्य योरपीय भाषाओं में नहीं। अँगरेजी में भी डिकेंस, वेल्स, हार्डी, किप्लिङ्ग, शार्लट ब्रांटी आदि ने कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन इनकी रचनाएँ भी मोपासाँ, बालजक या पियेर लोती के टक्कर की नहीं। फ्रान्सीसी कहानियों में सरसता की मात्रा बहुत अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त मोपासाँ और बालजक ने आख्यायिका के आदर्श को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनमें आध्यामिक या सामाजिक गुत्थियाँ अवश्य सुलझायी गयी हैं। रूप में सबसे उत्तम

कहानियाँ काउंट टालस्टाय की हैं। इनमें कई तो ऐसी हैं, जो प्राचीन काल के दृष्टान्तों की कोटि की हैं। चेखव ने बहुत कहानियाँ लिखी हैं, और योरप में उनका प्रचार भी बहुत है; किन्तु उनमें रूस के विलास-प्रिय समाज के जीवन-चित्रों के सिवा और कोई विशेषता नहीं। दास्तावेस्की ने भी उपन्यासों के अतिरिक्त कहानियाँ लिखी हैं; पर उनमें मनोभावों की दुर्बलता दिखाने ही की चेष्टा की गयी है। भारत में बंकिमचन्द्र और डाक्टर रवीन्द्रनाथ ने कहानियाँ लिखी हैं और उनमें से कितनी ही बहुत उच्चकोटि की हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास में आकार के अतिरिक्त और भी कोई अन्तर है? हाँ, है और बहुत बड़ा अन्तर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है — अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लायें, चाहे जितने दृश्य दिखायें, चाहे जितने चरित्र खींचें; पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केन्द्र पर मिल जायँ। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं; पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुंजाइश नहीं, बल्कि कई सुविज्ञ जनों की सम्मति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए। उपन्यास में आपकी कलम में जितनी शक्ति हो उतना जोर दिखाइये, राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफिल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिए; (भाषा सरस होनी चाहिए) ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका में आप महफिल के सामने से चले जायंगे, और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नहीं उठा सकते। वहाँ तो एक शब्द एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिए, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा, कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है; और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके पास न धन

है, न समय । यहाँ तो सरलता पैदा कीजिए, यही कमाल है । कहानी वह ध्रुपद की तान है जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता ।

हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते हैं, तो स्वभावतः यह जानना चाहते हैं कि यह कौन है । पहले उससे परिचय करना आवश्यक समझते हैं । पर आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरम्भ की जाती है । कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरम्भ हो जाती है, कहीं पुलिसकोर्ट के एक दृश्य से । परिचय पीछे आता है ! यह अँग्रेजी आख्यायिकाओं की नकल है । इससे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है । योरपवालों की देखा-देखी यन्त्रों द्वारा, डायरी या टिप्पणियों द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती हैं । मैंने स्वयं इन सभी प्रथाओं पर रचना की है; पर वास्तव में इससे कहानी की सरलता में बाधा पड़ती है । योरप के विज्ञ समालोचक कहानियों के लिए किसी अन्त की भी जरूरत नहीं समझते । इसका कारण यही है कि वे लोग कहानियाँ केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं । आपको एक लेडो लन्दन के किसी होटल में मिल जाती है । उसके साथ उसकी वृद्धा माता भी है । माता कन्या से किसी विशेष पुरुष से विवाह करने के लिए आग्रह करती है । लड़की ने अपना दूसरा वर ठोक कर रखा है । माँ बिगड़कर कहती है, मैं तुझे अपना धन न दूँगी । कन्या कहती है, मुझे इसकी परवा नहीं । अन्त में माता अपनी लड़की से रूठकर चली जाती है । लड़की निराशा की दशा में बैठी है कि उसका अपना पसन्द किया युवक आता है । दोनों में बातचीत होती है । युवक का प्रेम सच्चा है । वह बिना धन के ही विवाह करने पर राजी हो जाता है । विवाह होता है । कुछ दिनों तक स्त्री-पुरुष सुख-पूर्वक रहते हैं । इसके बाद पुरुष धनाभाव से किसी दूसरी धनवान स्त्री की टोह लेने लगता है । उसकी स्त्री को इसकी खबर हो जाती है और वह एक दिन घर से निकल जाती है । बस, कहानी समाप्त कर दी जाती है । क्योंकि Realists अर्थात् यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नजर

नहीं आता; बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फायदा ही क्या, वह तो अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण-मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का सामर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा समिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।

•

कहानी-कला : २

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब-कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।

इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास आदि से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है, इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहङ्कार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम-से-अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी, और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष है! थोड़े-से स्वार्थ के लिए भाई भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजा की हत्या कर डालता है!' उसे पढ़कर मन में ग्लानि होती है, आनन्द नहीं, और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती वह सुन्दर नहीं हो सकती, और जो सुन्दर नहीं हो सकती वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है, वही सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है; पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना और इसीलिए वह सत्य है।

मनुष्य ने जगत में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है उसी को साहित्य कहते हैं और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य-जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है — अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और

दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है — अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद बना देता है, इसीलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए है, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कहानी या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है; आज से नहीं, आदि काल से ही। हाँ, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में समय की गति और रुचि के परिवर्तन से, बहुत-कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान होती थी या अध्यात्म-विषयक। उपनिषद् और महाभारत में आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। बौद्ध-जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या हैं? बाइबिल में भी दृष्टान्तों और आख्यायिकाओं के द्वारा ही धर्म के तत्व समझाये गये हैं। सत्य इस रूप में आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।

मगर यह समझना भूल होगी की कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है, मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं, उतना यथार्थ जावन से नहीं होते — जब तक वह निजत्व की परिधि में न जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि कहानी पढ़कर वे लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं, जिन पर साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें श्मशान में या कब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं, वे लोग उपन्यास के मर्मस्पर्शी स्थलों पर पहुँचकर रोने

लगते हैं।

शायद इसका यह भी कारण हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का यह पर्दा नहीं होता, जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम हीं है।

कला दीखती तो यथार्थ है; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका मापदण्ड भी जीवन के मापदण्ड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है जब यह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है, उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम, कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता — कम से कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत है और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी-न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा; दुःख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता, जब तक कि मानव-न्यायबुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हर एक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रान्ति है, जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पच्छिम से ली है — कम-से-कम इसका आज का विकसित रूप तो पच्छिम का है ही। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गयी और हमने प्राचीन से जौ-भर भी इधर-उधर हटना निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं, उनका

उल्लंघन करना वर्जित था। अतएव, काव्य, नाटक, कथा, किसी में भी हम आगे कदम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है, जब तक उसमें कुछ नवीनता न लायी जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है और वह कोई नयी चीज चाहता है — चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गयी। पश्चिम प्रगति करता रहा — उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओं की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हर एक विभाग में उसकी इस अस्थिरता तथा असन्तोष की बेड़ियों से मुक्त हो जाने की छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रान्ति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं; पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो; पर शैली तो बिलकुल ही बदल गयी। अलिफलैला उस वक्त का आदर्श था — उसमें बहुरूपता थी, वैचित्र्य था; कुतूहल था, रोमान्स था — पर उसमें जीवन की समस्याएँ न थी, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य-रूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यास का उदय हुआ, जो कथा और नाटक के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टान्त भी रूपान्तरित होकर कहानी बन गये।

मगर सौ बरस पहले यूरप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्चकोटि के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे; लेकिन छोटी-छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हाँ, परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं। किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर, या उससे भी कम में समझिए, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अङ्गों पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना

गलत न होगा कि जैसे किसी जमाने में काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था वैसे ही आज कहानी है। और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालजक, मोपासाँ, चेखव, टॉल्स्टॉय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी में पचीस-तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परन्तु आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमें दो-चार कहानियाँ न हों — यहाँ तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह जमाना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने खयाल' लेकर बैठ जायँ और सारे दिन उसी की कुंजों में विचरते रहें। अब तो हम जीवन-संग्राम में इतने तन्मय हो गये हैं कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता, अगर कुछ मनोरञ्जन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य अठारह घंटे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरञ्जन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है। हम चाहते हैं कि थोड़े से थोड़े समय में अधिक मनोरञ्जन हो जाय — इसीलिए सिनेमा-गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनंद हम दो घंटों में उठा लेते हैं। कहानी के लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफी है। अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे; और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताजगी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्व भी हो। तत्वहीन कहानी से चाहे मनोरञ्जन भले ही हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते; लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिए, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में से — मनोरञ्जन और मानसिक तृप्ति में से — एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा में दुःखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंककर तैयार हो जाता है, उसकी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है—हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होनेवाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले। कितना भीषण द्वन्द्व है! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को जरा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है, मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुञ्जायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं; वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम

या तत्व निकले, वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनन्द आता है जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलनेवालों को जो उन्माद और उल्लास होता है, वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और इतने आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उस कहानी में आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

पाठकों से यह कहने की जरूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनों में हिन्दी-कहानी-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बंगला कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी प्रमुख कहानी-लेखकों की रचनाएँ पढ़ते हैं, उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी कहानी-लेखकों में विषय, दृष्टिकोण और शैली अलग-अलग विकास होने लगा है — कहानी जीवन से बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा ! वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रभावमयी हो गई है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम से कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है। कभी-कभी तो सम्भाषणों में एक-दो शब्दों से ही काम निकाल देता है। ऐसे कितने ही अवसर होते हैं, जब पात्र के मुँह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं, पूरे वाक्य की जरूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते, हम चाहते हैं कि पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे।

घटनाओं का स्वतन्त्र कोई महत्त्व ही नहीं रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है — उसी तरह, जैसे शालिग्राम स्वतन्त्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है। खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमें सौन्दर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

कहानी-कला : ३

कहानी सदैव से जीवन का एक विशेष अंग रही है। हर एक बालक को अपने बचपन की वे कहानियाँ याद होंगी, जो उसने अपनी माता या बहन से सुनी थीं। कहानियाँ सुनने को वह कितना लालायित रहता था, कहानी शुरू होते ही वह किसी तरह सब-कुछ भूलकर सुनने में तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियों की कहानियाँ सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था — इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता। बाल-जीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सबसे मधुर है। वह खिलौने, मिठाइयों और तमाशे सब भूल गये ; पर वे कहानियाँ अभी तक याद हैं और उन्हीं कहानियों को आज उसके मुँह से उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होंगे। मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी लालसा यही है कि वह कहानी बन जाय और उसकी कीर्ति हर एक जबान पर हो।

कहानियों का जन्म तो उसी समय में हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा ; लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमें जो कुछ ज्ञान है, वह कथा-सरित्सागर', 'ईसप की कहानियाँ' और 'अलिफ-लैला' आदि पुस्तकों से हुआ है। ये सब उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओं और प्रसंगों को सुनकर हम, अपने बाप-दादा की भाँति ही, आज भी प्रसन्न होते हैं। हमारा ख्याल है कि जनरुचि जितनी आसानी से अलिफ़-लैला की कथाओं का आनन्द उठाती है, उतनी आसानी से नवीन उपन्यासों का आनन्द नहीं उठा सकती। और अगर

काउंट टॉल्सटॉय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाय, तो अलिफ़-लैला के सामने स्वयं टॉल्सटॉय के 'वार ऐंड पीस' और ह्यूगो के 'ले मिज़रेबुल' की कोई गिनती नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी राग-रागिनियाँ, हमारी सुन्दर चित्रकारियाँ और कला के अनेक रूप, जिन पर मानव-जाति को गर्व है, कला के क्षेत्र से बाहर हो जायेंगे। जन रुचि परक और विहाग की अपेक्षा बिरहे और दादरे को ज्यादा पसन्द करती है। बिरहों और ग्रामगीतों में बहुधा बड़े ऊँचे दरजे की कविता होती है, फिर भी यह कहना असत्य नहीं है कि विद्वानों और आचार्यों ने कला के विकास के लिए जो मर्यादाएँ बना दी हैं, उनसे कला का रूप अधिक सुन्दर और अधिक संयत हो गया है। प्रकृति में जो कला है, वह प्रकृति की है, मनुष्य की नहीं। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है, जिस पर मनुष्य की आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भाँति मानव-हृदय के साँचे में पड़कर संस्कृत हो गयी हो। प्रकृति का सौन्दर्य हमें अपने विस्तार और वैभव से पराभूत कर देता है। उससे हमें आध्यात्मिक उल्लास मिलता है; वह वही दृश्य जब मनुष्य की तूलिका एवं रंगों और मनोभावों से रंजित होकर हमारे सामने आता है, तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमें हमें आत्मीयता का सन्देश मिलता है।

लेकिन भोजन जहाँ थोड़े-से मसाले से अधिक रुचिकर हो जाता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि मसाले मात्रा से बढ़ने न पायें। जिस तरह मसालों के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता कम हो जाती है, उसी भाँति साहित्य भी अलंकारों के दुरुपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है और स्वाभाविक से दूर होकर कला अपना आनन्द खो देती है और उसे समझनेवाले थोड़े-से कलाविद् ही रह जाते हैं; उसमें जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती।

पुरानी कथा-कहानियाँ अपने घटना-वैचित्र्य के कारण मनोरंजक तो हैं; पर उनमें उस रस की कमी है जो शिक्षित रुचि साहित्य में खोजती है। अब हमारी साहित्यिक रुचि कुछ परिष्कृत हो गयी है। हम हर एक

विषय की भाँति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं। अब हम किसी राजा की अलौकिक वीरता या रानी के हवा में उड़कर राजा के पास पहुँचने, या भूत-प्रेतों के काल्पनिक चरित्रों को देखकर प्रसन्न नहीं होते। हम उन्हें यथार्थ के काँटे पर तौलते हैं और जौ-भर भी इधर-उधर नहीं देखना चाहते। आजकल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिए गुंजाइश नहीं है। उसमें हम अपने जीवन का ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक वाक्य को, एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाय कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं हैं। उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम सन्तुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुँचना चाहते हैं और जो लेखक मानवी हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है, उसी की रचना सफल समझी जाती है। हम केवल इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होते कि अमुक व्यक्ति ने अमुक काम किया। हम देखना चाहते हैं कि किन मनोभावों से प्रेरित होकर उसने यह काम किया; अतएव मानसिक द्वन्द्व वर्तमान उपन्यास या गल्प का खास अंग है।

प्राचीन कलाओं में लेखक बिलकुल नेपथ्य में छिपा रहता था। हम उसके विषय में उतना ही जानते थे, जितना वह अपने को अपने पात्रों के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उसके क्या विचार हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसके मनोभावों में क्या परिवर्तन होते हैं, इसका हमें कुछ पता न चलता था; लेकिन आजकल उपन्यासों में हमें लेखक के दृष्टिकोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता है। हम उसके मनोगत विचारों और भावों द्वारा उसका रूप देखते रहते हैं और ये भाव जितने व्यापक और गहरे तथा अनुभवपूर्ण होते हैं, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यों कहना चाहिए की वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्रत उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः मेरी 'सुजन भगत,' 'मुक्ति-

मार्ग', 'पंच-परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' नामक सभी कहानियों में एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गयी है।

यह तो सभी मानते हैं कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरंजन है; पर साहित्यिक मनोरंजन वह है, जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले — हममें सत्य, निःस्वार्थ सेवा, न्याय आदि देवत्व के जो अंश हैं, वे जागृत हों। वास्तव में मानवीय आत्मा की यह वह चेष्टा है, जो उसके मन में अपने-आपको पूर्णरूप में देखने को होती है। अभिव्यक्ति मानव-हृदय का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य जिस समाज में रहता है, उसमें मिलकर रहता है, जिन मनोभावों से वह अपने मेल के क्षेत्र को बढ़ा सकता है, अर्थात् जीवन के अनन्त प्रवाह में सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएँ भावनाओं के इस प्रवाह में बाधक होती हैं, वे सर्वथा अस्वाभाविक हैं; परन्तु यदि स्वार्थ, अहंकार और ईर्ष्या की ये बाधाएँ न होतीं, तो हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहाँ से मिलती? शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन इन बाधाओं को परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म को प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी संघर्ष से साहित्य की उत्पत्ति होती है। यही साहित्य की उपयोगिता भी है। साहित्य में कहानी का स्थान इसलिए ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है। और चाहे थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरों में अपने को देखने का, दूसरों के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का क्षेत्र बढ़ा देती है।

हिन्दी में इस नवीन शैली की कहानियों का प्रचार अभी थोड़े ही दिनों से हुआ है; पर इन थोड़े ही दिनों में इसने साहित्य के अन्य सभी अंगों पर अपना सिक्का जमा लिया है। किसी पत्र को उठा लीजिए, उसमें कहानियों ही की प्रधानता होगी। हाँ, जो पत्र किसी विशेष नीति या उद्देश्य से निकाले जाते हैं उनमें कहानियों का स्थान नहीं रहता। जब डाकिया कोई पत्रिका लाता है, तो हम सबसे पहले उसकी कहानियाँ पढ़ना

शुरू करते हैं। इनसे हमारी यह क्षुधा तो नहीं मिटती, जो इच्छापूर्ण भोजन चाहती है पर फलों और मिठाइयों की जो क्षुधा हमें सदैव बनी रहती है, वह अवश्य कहानियों से तृप्त हो जाती है। हमारा ख्याल है कि कहानियों ने अपने सार्वभौम आकर्षण के कारण, संसार के प्राणियों को एक दूसरे से जितना निकट कर दिया है, उनमें जो एकात्मभाव उत्पन्न कर दिया है, उतना और किसी चीज ने नहीं किया। हम आस्ट्रेलिया का गेहूँ खाकर, चीन की चाय पीकर, अमेरिका की मोटरों पर बैठकर भी उनको उत्पन्न करनेवाले प्राणियों से बिलकुल अपरिचित रहते हैं, लेकिन मोपासाँ, अनातोल फ्रान्स, चेखव और टॉलस्टॉय की कहानियाँ पढ़कर हमने फ्रान्स और रूस से आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। हमारे परिचय का क्षेत्र सागरों, द्वीपों और पहाड़ों को लाँघता हुआ फ्रान्स और रूस तक विस्तृत हो गया है। हम वहाँ भी अपनी ही आत्मा का प्रकाश देखने लगते हैं। वहाँ के किसान और मजदूर एवं विद्यार्थी हमें ऐसे लगते हैं, मानो उनसे हमारा घनिष्ट परिचय हो।

हिन्दी में बीस-पचीस साल पहले कहानियों का कोई चर्चा न थी। कभी-कभी बंगला और अँगरेजी कहानियों के अनुवाद छप जाते थे। परन्तु आज कोई ऐसा पत्र नहीं, जिसमें दो-चार कहानियाँ प्रतिमास न छपती हों। कहानियों के अच्छे-अच्छे संग्रह निकलते जा रहे हैं। अभी बहुत दिन नहीं हुए कि कहानियों का पढ़ना समय का दुरुपयोग समझा जाता था। बचपन में हम कभी कोई किस्सा पढ़ते पकड़ लिये जाते थे, तो कड़ी डाँट पड़ती थी। यह ख्याल किया जाता था कि किस्सों से चरित्र भ्रष्ट हो जाता है। और उन 'फिसाना अजायब' और 'शुक-बहत्तरी' और 'तोता-मैना' के दिनों में ऐसा ख्याल होना स्वाभाविक ही था। उस वक्त कहानियाँ कहीं स्कूल कैरिकुलम में रख दी जातीं, तो शायद पिताओं का एक डेपुटेशन इसके विरोध में शिक्षा विभाग के अध्यक्ष की सेवा में पहुँचता। आज छोटे-बड़े सभी क्लासों में कहानियाँ पढ़ायी जाती हैं और परीक्षाओं में उन पर प्रश्न किये जाते हैं। यह मान लिया गया कि साँस्कृतिक विकास के लिए सरस साहित्य से उत्तम कोई साधन नहीं है। अब लोग

यह भी स्वीकार करने लगे हैं कि कहानी कोरी गप नहीं है, और उसे मिथ्या समझना भूल है। आज से दो हजार बरस पहले यूनान के विख्यात फिलासफर अफलातूँ ने कहा था कि हर एक काल्पनिक रचना में मौलिक सत्य मौजूद रहता है। रामायण, महाभारत आज भी उतने ही सत्य हैं, जितने आज से पाँच हजार साल पहले थे, हालाँकि इतिहास, विज्ञान और दर्शन में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। कितने ही सिद्धान्त, जो एक जमाने में सत्य समझे जाते थे, आज असत्य सिद्ध हो गये हैं, पर कथाएँ आज भी उतनी ही सत्य हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध मनोभावों से है और मनोभावों में कभी परिवर्तन नहीं होता। किसी ने बहुत ठीक कहा है, कि कहानी में नाम और सन् के सिवा और सब कुछ सत्य है; और इतिहास में नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं। गल्पकार अपनी रचनाओं को जिस साँचे में चाहे ढाल सकता है; पर किसी दशा में भी वह उस महान् सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता, जो जीवन-सत्य कहलाता है।

●

उपन्यास

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों।

मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ह उपन्यास का मूल तत्व है।

किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँख, कान, नाक, मुँह होते हैं पर उतनी समानता पर भी जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियों के चरित्र में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र-सम्बन्वी समानता और विभिन्नता, अभिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।

सन्तान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा, जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो ? लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राएँ हैं, उसके भेद हैं। कोई तो सन्तान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन

धर्म-भीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता है। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी सन्तान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश-मात्र भी विचार नहीं करता — जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह सन्तान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है, जहाँ सन्तान का चरित्र प्रधान कारण होता है, जब कि पिता सन्तान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है — उसके लिए कुछ छोड़ जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सन्तान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानव-गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। सन्तान-प्रेम की एक दशा यह भी है, जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी सन्तान-प्रेम ही है, जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह सन्तान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है, उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिये, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए ?

यहीं से उपन्यासों के दो गिरोह हो गये हैं। एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा — उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं।

संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं, उनको नेकी का फल उलटा मिलता है, और बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनको बदी का फल उलटा मिलता है। (प्रकृति का नियम विचित्र है!) यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूंकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है — यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।

इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखायें जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्ति-जनक हो जाता है। फिर मानव स्वभाव की विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले — वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़े ही क्यों?

अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तब

इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठायें। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है; लेकिन काँइएपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की पूर्तिमात्र हों — जिसमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो — महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्श की छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरञ्जन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरञ्जन के साथ

आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें बल्कि उनको परास्त करें; जो वासनाओं के पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें; जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हों; ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा — ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है — इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं; अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है,

इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्व क्षणिक होता है ? विक्टर ह्यूगो का 'ले मिजरेबुल', टालस्टाय के अनेक ग्रंथ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए उच्च-कोटि की साहित्यिक कृतियाँ हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं।

हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे ? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषणा दृश्य दिखायी देते हैं, विपत्ति का करुण क्रदन सुनायी देता है, तो कैसे संभव है कि किसो विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे ? हाँ, उपन्यासकार का इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इंगलैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की जबान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेश — सबकी रचना हो गयी। 'साइलस मार्नर' भी अंगरेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका हैं, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तसवीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गयी थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर' भी हँथर्न की बहुत ही सुन्दर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने

आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बह-लाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें बल्कि उनको परास्त करें; जो वासनाओं के पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें; जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हों; ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा — ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है — इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं; अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है,

इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्व क्षणिक होता है? विक्टर ह्यूगो का 'ले मिजरेबुल', टालस्टाय के अनेक ग्रंथ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए उच्च-कोटि की साहित्यिक कृतियाँ हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं।

हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषणा दृश्य दिखायी देते हैं, विपत्ति का करुण क्रंदन सुनायी देता है, तो कैसे संभव है कि किसो विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे? हाँ, उपन्यासकार का इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इंगलैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की जबान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेश — सबकी रचना हो गयी। 'साइलस मार्नर' भी अंगरेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका हैं, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तसवीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गयी थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर' भी हँथर्न की बहुत ही सुन्दर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने

मुकद्दमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गये, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रङ्गभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में रहता था। एक जरा-सा इशारा, एक जरा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क में पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। 'एम० ऐंड्र ूज़ हिम' रडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन एक इञ्जीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनायी थी। वह उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों में मिले। वह घण्टों अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगों को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, 'मैं ऐसा उपन्यास लिखूंगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी।' इसका फल था 'जेन आयर'।

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिए अंकुर मिल जाते हैं। हाल केन का नाम पाठकों ने सुना है। आपकी एक उत्तम रचना का हिन्दी अनुवाद हाल ही में 'अमरपुरी' के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। मेटरलिंक बेलजियम के जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हें बेलजियम का शेक्सपियर कहते हैं। उनका 'मोनावोन' नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन ड्रामा से। शेक्सपियर के नाटकों का मूल स्थान खोजकर कितने ही विद्वानों ने 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग 'डाक्टर' बन सकते हैं। 'तिलिस्म होशरुबा' फारसी का एक वृहत् पोथा है जिसके रचयिता

अकबर के दरबारवाले फैंजी कहे जाते हैं, हालाँकि हमें यह मानने में सन्देह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम-से-कम २०,००० पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व० बाबू देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का बीजांकुर 'तिलिस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएँ हैं, जिन पर हजारों बरसों से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आये हैं। और शायद हजारों वर्षों तक लिखते जायँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर न जाने कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गयी हैं। यूरोप मे भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए अशेष आधार है। 'दो भाइयों की कथा', जिसका पता पहले मिस्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखों से मिला, फ्रान्स से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गयी है। यहाँ तक कि बाइबिल मे उस कथा की एक घटना ज्यों की ज्यों मिलती है।

किन्तु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नये कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता जो पुराने कथानकों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुन्तला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नहीं।

रचना-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके हैं, उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहती—कमल उठाया और लिखने लगे। लेकिन नये लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, वह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य-विषयों से उभरती है, किसी की गन्ध से, किसी की श्रवण से। किसी को नये सुरम्य स्थान की सैर से

इस विषय में यथेष्ठ सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नयी-नयी कल्पनाएँ जाग्रत होती हैं।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं ? कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुजर जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-संपादक ने इसकी परीक्षा करने का नया ढंग निकाला है। दल के दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण ? वह एक कागज के टुकड़े पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मेदवार को वह टुकड़ा देकर उस नाम के सम्बन्ध में ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालों का रंग क्या है ? उसके कपड़े कैसे हैं ? कहाँ रहती है ? उसका बाप क्या काम करता है ? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है ? , आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर न दिये, तो उन्हें अयोग्य समझकर बिदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग में नवीनता तो अवश्य है पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नहीं है।

लेखकों के लिए एक नोटबुक का रहना आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रखी; पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नयी चीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है जब तब उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर प्रकार की चीजों को वे अलग-अलग खानों में संगृहीत कर लें। बरसों के अभ्यास के बाद वह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन आरम्भकाल में तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसकेदृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिये, एक उपन्यासकार की नोटबुक का नमूना—

'अगस्त २१, १२ बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी, श्याम वर्ण,

सुफेद बाल, आँखें तिरछी, पलकें भारी, ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूँछें ऐंठी हुई।

'सितम्बर १, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब काला, हरा, चमकीला, लहरें फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटे से झाग उड़ती हुई।'

उन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियों के प्लाट कहाँ मिलते हैं ? तो आपने कहा, 'चारों तरफ।' अगर लेखक अपनी आँखें खुली रखे, तो उसे हवा में से भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार-पत्रों में, मनुष्य के वार्तालाप में और हजारों जगहों से सुन्दर कहानियाँ बनायी जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देखभाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छाँट लेती है। दो साल हुए मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातों ही बातों में यह चर्चा छिड़ गयी कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जायँ तो क्या हो ? इस अंकुर से मैंने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकालीं।

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिये। वालटर बेसेंट अपनी 'उपन्यास कला' नामक पुस्तक में लिखते हैं —

'उपन्यास को अपनी सामग्री, आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिये जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे, वे तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा ? यह सत्य है। लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े, कंजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी, शराबी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते ? पुस्तकों में नये चरित्र न मिलें पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।'

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किये हैं, वह भी

देखिये —

'अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है, तो वह सूक्ष्मतमभावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पन्दन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं, उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक-जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अँग्रेज उपन्यासकार को जानता हूँ, जिसने अपनी एक कहानी में फ्रान्स के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर साहित्यिक संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा — आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ मिला? (फ्रान्स, रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखायी पड़ते।) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्रोटेस्टेंट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिस पर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी जो एक इंच से एक योजन की खबर लाती है और जो शिल्पी के लिए बड़े महत्व की वस्तु है।'

मिस्टर जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने में बड़े प्रवीण हैं। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है, वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते हैं :

'कहानी में जो रहस्य हो उसे कई भागों में बाँटना चाहिए। पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अन्त में रहस्य खुल जाय। लेकिन हरएक भाग में कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए जिसमें पाठक की इच्छा सब-कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अन्त में रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियों में यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में तभी मजा है जबकि वह चरित्र अपराधी सिद्ध हो, जिस पर कोई भूलकर भी

सन्देह न कर सकता था।'

उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है, इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसन्द नहीं करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका-मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानो या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानी में मजा नहीं आता। किसी चरित्र की रूप-रेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलिया-नवीसो करने की जरूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिए। किसी दृश्य को तुरंत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत-सी अनावश्यक बातों के आ जाने की सम्भावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें आप ही आप मस्तिष्क से निकल जाती हैं; केवल मुख्य बातें स्मृति पर अंकित रह जाती हैं। तब उस दृश्य के वर्णन में अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं—

दो मित्र सन्ध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हम उन्हें राम और श्याम कहेंगे।

राम — गुड ईवनिंग श्याम, कहो आनन्द तो है?

श्याम — हलो राम, तुम आज किधर भूल पड़े?

राम — कहो क्या रंग-ढंग है? तुम तो भले ईद के चाँद हो गये।

श्याम -- मैं तो ईद का चाँद न था, हाँ, आप गूलर के फूल भले ही हो गये।

राम — चलते हो संगीतालय की तरफ?

श्याम — हाँ, चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है, जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बातें बताना ही उसका ध्येय है, तो वह केवल इतना ही लिख देगा —

'अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।'



उपन्यास का विषय

उपन्यास का क्षेत्र, अपने विषय के लिहाज से, दूसरो ललित कलाओं से कहीं ज़्यादा विस्तृत है। वाल्टर बेसेंट ने इस विषय पर इन शब्दों में विचार प्रकट किये हैं —

'उपन्यास के विषय का विस्तार मानव चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसका सम्बन्ध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।'

इसी विषय-विस्तार ने उपन्यास को संसार-साहित्य का प्रधान अंग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है, तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है तो आप उपन्यास में महान् दार्शनिक तत्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुन्जाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है. उतना साहित्य के और किसी अंग में नहीं मिल सकता। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बन्धन ही नहीं है। उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यासकार को बेड़ियों में जकड़ देता है। तंग सड़कों पर चलनेवालों के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन नहीं है, जितना एक लम्बे-चौड़े मार्गहीन मैदान में चलनेवालों के लिए।

उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काम में कभी सफल नहीं हो सकता। उसमें और चाहे जितने अभाव हों पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है, जिसका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अगर इस शक्ति की कमी है, तो चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यों न किया हो, वह कितना ही विद्वान क्यों हो, उसके अनुभव का क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यों न हो, उसकी रचना में सरसता नहीं आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक हैं जिनमें मानव-चरित्र के रहस्यों का बहुत मनो-रंजक, सूक्ष्म और प्रभाव डालनेवाली शैली में बयान करने की शक्ति मौजूद है; लेकिन कल्पना की कमी के कारण वे अपने चरित्रों में जीवन का संचार नहीं कर सकते, जीती-जागती तसवीरें नहीं खींच सकते। उनकी रचनाओं को पढ़कर हमें यह ख्याल नहीं होता कि हम कोई सच्ची घटना देख रहे हैं।

इसमे सन्देह नहीं कि उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावो-त्पादक होनी चाहिए; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शब्दों का गोरखधन्धा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दें कि इसमें जरूर कोई न कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का ठाट-बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में गलत राय कायम कर लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासों के शाब्दिक आडम्बर देखकर भी हम ख्याल करने लगते हैं कि कोई महत्त्व की बात छिपी हुई है। सम्भव है, ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाय, किन्तु जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।

उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाये, लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सम्बन्ध रखती हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह घुल-मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाय, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की-सी हो जायगी जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हों।

जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है, तो वह पाठक के उस आनन्द में बाधक हो जाता है जो उसे कथा में आ रहा था। उपन्यास में वही घटनाएँ, वही विचार लाना चाहिए जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, जो प्लाट के विकास में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों। पुरानी कथाओं में लेखक का उद्देश्य घटना-वैचित्र्य दिखाना होता था ; इसलिए वह एक कथा में कई उपकथाएँ मिलाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था। सम्प्रति-कालीन उपन्यासों में लेखक का उद्देश्य मनोभावों और चरित्र के रहस्यों को खोलना होता है ; अतएव यह आवश्यक है कि वह अपने चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखे, उसके चरित्रों का कोई भाग उसकी निगाह से न बचने पाये। ऐसे उपन्यास में उपकथाओं की गुंजाइश नहीं होती।

यह सच है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हर एक पहलू जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है, लेकिन इसके साथ ही विषय का महत्त्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने में बहुत सहायक होती है। यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्रनायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागरित कर दे जो उसके पात्रों में हों। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है — उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।

मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति में तब तक जागरित नहीं होती जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न किया जाय। हमारे हृदय के अन्तरतम भाव साधारण दशाओं में आन्दोलित नहीं होते। इसके लिए ऐसी घटनाओं की कल्पना करनी होती है जो

हमारा दिल हिला दें, जो हमारे भावों को गहराई तक पहुँच जायं। अगर किसी अबला को पराधीन दशा का अनुभव कराना हो तो इस घटना से ज्यादा प्रभाव डालनेवाली और कौन घटना हो सकती है कि शकुन्तला राजा दुष्यन्त के दरबार में आकर खड़ी होती है और राजा उसे न पहचान कर अपनी उपेक्षा करता है ? खेद है कि आजकल के उपन्यासों में गहरे भावों को स्पर्श करने का बहुत मसाला रहता है। अधिकांश उपन्यास गहरे और प्रचण्ड भावों का प्रदर्शन नहीं करते। हम आये दिन की साधारण बातों ही में उलझकर रह जाते हैं।

इस विषय में अभी तक मतभेद है कि उपन्यास में मानवीय दुर्बलताओं और कुवासनाओं का, कमजोरियों और अपकीर्तियों का, विशद वर्णन वांछनीय है या नहीं; मगर इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयों में बाँध लेता है, वह कभी उस कलाविद् की महानता को नहीं पा सकता जो जीवन-संग्राम में एक मनुष्य की आन्तरिक दशा को, सत् और असत् के संघर्ष और अन्त में सत्य की विजय को मार्मिक ढंग से दर्शाता है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अन्धकार की ओर ही केन्द्रित कर दें। अन्धकार में मनुष्य को अन्धकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है ? बेशक, चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी कभी-कभी अनावश्यक होता है। लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाय मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकती है। किसी को नीच समझकर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जायगा कि 'तुम कायर हो।' हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य — सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का सम्बन्ध सत्य और सुन्दर से है, यह हमें न भूलना चाहिए।

मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे हुए उपन्यासों की जैसे बाढ़ सी आ गई है। साहित्य के इतिहास में ऐसा कोई समय न था जब ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासों की इतनी भरमार रही हो। जासूसी उपन्यासों

में क्यों इतना आनन्द आता है ? क्या इसका कारण यह है कि पहले से अब लोग ज्यादा पापासक्त हो गये हैं ? जिस समय लोगों को यह दावा है कि मानव-समाज नैतिक और बौद्धिक उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ है, यह कौन स्वीकार करेगा कि हमारा समाज पतन की ओर जा रहा है ? शायद, इसका यह कारण हो कि इस व्यावसायिक शान्ति के युग में ऐसी घटनाओं का अभाव हो गया है जो मनुष्य के कुतूहल-प्रेम को सन्तुष्ट कर सके — जो उसमें सनसनी पैदा कर दें। या इसका यह कारण हो सकता है कि मनुष्य की धन-लिप्सा उपन्यास के चरित्रों को धन के लोभ से कुकर्म करते देखकर प्रसन्न होती है। ऐसे उपन्यासों में यही तो होता है कि कोई आदमी लोभ-वश किसी धनाढ्य पुरुष को हत्या कर डालता है, या उसे किसी संकट में फँसाकर उससे मनमानी रकम ऐंठ लेता है। फिर जासूस आते हैं, वकील आते हैं और मुजरिम गिरफ्तार होता है, उसे सजा मिलती है। ऐसी रुचि को प्रेम, अनुराग या उत्सर्ग की कथाओं में आनन्द नहीं आ सकता। भारत में वह व्यावसायिक वृद्धि तो नहीं हुई लेकिन ऐसे उपन्यासों की भरमार शुरू हो गयी। अगर मेरा अनुमान गलत नहीं है तो ऐसे उपन्यासों की खपत इस देश में भी अधिक होती है। इस कुरुचि का परिणाम रूसी उपन्यास लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दों में ऐसे वातावरण का पैदा होना है, जो कुकर्म की प्रवृत्ति को दृढ़ करता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य में पशु-वृत्तियाँ इतनी प्रबल होती जा रही हैं कि अब उसके हृदय में कोमल भावों के लिए स्थान ही नहीं रहा।

उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकास-पूर्ण होगा उतना ही पढ़नेवालों पर उसका असर पड़ेगा, और यह लेखक की रचना-शक्ति पर निर्भर है। जिस तरह किसी मनुष्य को देखते ही हम उसके मनोभावों से परिचित नहीं हो जाते, ज्यों-ज्यों हमारी घनिष्ठता उससे बढ़ती है; त्यों-त्यों उसके मनोरहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते बल्कि उनमें क्रमशः विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त, अस्पष्ट रूप से होता है कि पढ़नेवाले को किसी तबदीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर

चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिए, क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अन्त में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था — उसके बल, बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।

इस दृष्टि से जब हम हिन्दी के वर्तमान उपन्यासों को देखते हैं तो निराशा होती है। अधिकांश चरित्र ऐसे ही मिलेंगे जो काम तो बहुतेरे करते हैं ; लेकिन जैसे जो काम वे आदि में करते, उसी तरह वही अन्त में भी करते हैं।

कोई उपन्यास शुरू करने के लिए यदि हम उन चरित्रों का एक मानसिक चित्र बना लिया करें तो फिर उनका विकास दिखाने में हमें सरलता होगी। यह कहने की भी जरूरत नहीं है, विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात् — पाठक और लेखक दोनों इस विषय में सहमत हों। अगर पाठक का यह भाव हो कि इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिए था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अङ्कित करने में असफल रहा। चरित्रों में कुछ न कुछ विशेषता भी रहनी चाहिए। जिस तरह संसार में कोई दो व्यक्ति समान नहीं होते, उसी भाँति उपन्यास में भी न होनी चाहिए। कुछ लोग तो बातचीत या शक्ल-सूरत से विशेषता कर देते हैं ; लेकिन असली अन्तर तो वह है, जो चरित्रों में हो।

उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्सी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को — जो किसी चरित्र के मुँह से निकले — उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है। हमारे उपन्यासों में अक्सर बातचीत भी उसी शैली में करायी जाती है मानो लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है, हाँ, भिन्न-भिन्न जातियों की

जबान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगली, मारवाड़ी और ऐंग्लो-इण्डियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाये जाते हैं। लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं। पर ग्रामीण बातचीत हमें दुविधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस-पास का आदमी समझ ही न सकेगा।

वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभाव का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसके हृदय में देख की लगन है उसके चरित्र, घटनावली और परिस्थितियाँ सभी उसी रंग में रँगी हुई नजर आयेंगी। लहरी आनन्दो लेखकों के चरित्रों में भी अधिकांश चरित्र ऐसे ही होंगे जिन्हें जगत्-गति नहीं व्यापती। वे जासूसी, तिलिस्मी चीजें लिखा करते हैं। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचना में आशावादिता झलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है तो बहुत प्रयत्न करने पर भी, वह अपने चरित्रों ... जिन्दादिल न बना सकेगा। 'आजाद-कथा' को उठा लीजिये, तुरन्त मा..म हो जायगा कि लेखक हँसने-हँसानेवाला जीव है जो जीवन को गम्भीर विचार के योग्य नहीं समझता। जहाँ उसने समाज के प्रश्नों को उठाया है, वहाँ शैली शिथिल हो गयी है।

जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है। जिसके भाव गहरे हैं, प्रखर हैं — जो जीवन से लद्दू बनकर नहीं, बल्कि सवार बनकर चलता है, जो उद्योग करता है और विफल होता है, उठने की कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराइयों में डूबा है, जिसने जिन्दगी के ऊँच-नीच देखे हैं, सम्पत्ति और विपत्ति का सामना किया है, जिसकी जिन्दगी मखमली गद्दों पर ही नहीं गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिनमें प्रकाश, जीवन और आनन्द-प्रदान की सामर्थ्य होगी।

उपन्यास के पाठकों की रुचि भी अब बदलती जा रही है। अब उन्हें केवल लेखक की कल्पनाओं से सन्तोष नहीं होता। कल्पना कुछ भी हो,

कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नहीं ले सकती। भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है, जो अनुभूति पर खड़े हों।

इसका आशय यह है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा। हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है; पर बहुधा हम परिस्थितियों का ऐसा क्रम बाँधते हैं कि अन्त स्वाभाविक होने पर भी वह होता है जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकता का स्वाँग जितनी खूबसूरती से भर सकें, उतने ही सफल होते हैं; लेकिन भविष्य में पाठक इस स्वाँग से सन्तुष्ट न होगा।

यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पायी है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम भूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा। किसो किसान का चरित्र हो, या किसी देश भक्त का, या किसी बड़े आदमी का; पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है; क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं; जिन्हें बहुत-से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।

●

उपन्यास-रचना

भारत-निवासियों ने यूरोपियन साहित्य के किसी अंग को इतना ग्रहण नहीं किया जितना उपन्यास को। यहाँ तक कि उपन्यास अब हमारे साहित्य का एक अविच्छेद अंग हो गया है। उपन्यास का जन्म चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग हुआ। शेक्सपियर ने अपने कई नाटकों की रचना इटालियन उपन्यासों के ही आधार पर की है। यह शैली इतनी प्रिय हुई कि आज समस्त संसार में साहित्य पर उपन्यास ही का आधिपत्य है। गत पचास वर्षों में भारत की साहित्यिक शक्ति का जितना उपयोग उपन्यास-रचना में हुआ उतना शायद साहित्य के और किसी भाग में नहीं हुआ। बँगला ने बंकिम पैदा किया, गुजराती ने गोविन्ददास, मराठी ने आप्टे, उर्दू ने रतननाथ और शरर, जो संसार के किसी उपन्यासकार से घटकर नहीं हैं। हिन्दी ने पहले अद्भुत रस के उपन्यासकार पैदा किये पर अब धीरे-धीरे उसमें चरित्र-चित्रण, मनोभाव और जासूसी के उपन्यास भी प्रकाशित होने लगे हैं, और आशा है कि वह थोड़े ही दिनों में इस विषय में किसी प्रान्तिकभाषा से दबकर नहीं रहेगी। वास्तव में उपन्यास-रचना को सरल साहित्य (Light literature) कहा जाता है, इसलिए कि इससे पाठकों का मनोरंजन होता है। पर उपन्यासकार को उपन्यास लिखने में उतना ही दिमाग लगाना पड़ता है, जितना किसी दार्शनिक को दर्शन-शास्त्र के ग्रन्थ लिखने में। उसे सबसे पहले उपन्यास का विषय खोजना पड़ता है। क्या लिखे ? भौतिक वैभव की असारता दिखावे, या मनोभावों का पारस्परिक संग्राम ? कोई गुप्त रहस्य चुने या किसी ऐति-

हासिक घटना का चित्रण करे ? लेखक अपनी रुचि और प्रकृति के अनुकूल ही इनमें से कोई विषय पसन्द कर लेता है। विषय निर्धारित हो जाने के पश्चात् उसे प्लाट को चिन्ता होती है। वह सोता हो या जागता, चलता या बैठा, इसी चिन्ता में डूबा रहता है। कभी-कभी उसे सोच-विचार में महीनों, बरसों लग जाते हैं। इस चिन्ता में लेखक जितना ही व्यस्त होगा उतनी ही उत्तम उसकी रचना होगी—

उपन्यास की बुनियाद पड़ गयी। अब हमें अपना भवन खड़ा करने के लिए मसाले की आवश्यकता होती है। उसके मुख्य साधन ये हैं :

१ — अवलोकन २ —- अनुभव। ३ —- स्वाध्याय ४ — अंतर्दृष्टि ५ — जिज्ञासा ६ — विचार-आकलन।

कहते हैं, अमरीका के सुविख्यात साहित्यकार मार्क ट्वेन ने इस बात का अनुभव प्राप्त करने के लिए कि बिना टिकट रेल-ट्राम में सफ़र करने वालों के चित्त की क्या दशा होती है, कई बार बिना टिकट सफ़र किया। ऐसे ही एक और सज्जन ने पेरिस के चकलों की तस्वीर खींचने के लिए महीनों शोहदों और गुण्डों की संगति की। एक तीसरे महाशय ने चोर के हृदय के भावों को जानने के लिए स्वयं सेंघ तक मारी। इसका कारण यह जान पड़ता है कि पाश्चात्य देश के लेखक कल्पना-शून्य होते हैं। उपन्यासकार को ऐसी दशाओं और मनोभावों के वर्णन करने में अपनी कल्पना-शक्ति ही सबसे बड़ी मददगार है। ऐसा बिरला ही कोई प्राणी होगा जिसने बचपन में पैसे या मिठाई न चुरायी हो, या चोरी से मेला या दंगल देखने न गया हो, अथवा पाठशाला में अध्यापक से बहाने न किये हों। यदि कल्पना-शक्ति तीव्र हो तो इतने अनुभव चोरों और डकैतों के मनोभाव चित्रित करने में कृतकार्य कर सकती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कृत्रिम अवस्थाओं में जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे स्वाभाविक नहीं हो सकते। फिर भी उपन्यास की सफलता के लिए अनुभव सर्वप्रधान मन्त्र है। उपन्यास-लेखक को यथासाध्य नये-नये दृश्यों को देखने और नये-नये अनुभवों को प्राप्त करने का कोई अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए।

प्राणियों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए दूसरा साधन अपने भावों को टटोलना है। सर फ़िलिप सिडनी का कहना था कि 'अपनी निगाह अपने हृदय में डालो और जो कुछ देखो ; लिखो, लेखक अपने को कल्पना के द्वारा जितनी ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रख सकता है, उतना ही सफल-मनोरथ होता है। तुलसीदास ने पुत्र-शोक कितनो सफलता से दिखाया है। विदित ही है कि उन्हें इस शोक का प्रत्यक्ष अनुभव न था। अपने को शोकातुर, वियोगी पिता के स्थान में रखकर ही उन्होंने उन भावों का अनुभव किया होगा।

स्वाध्याय से भी उपन्यासकार को बड़ी मदद मिलती है। एक ऋषि का कथन है कि स्वाध्याय मनुष्य को सम्पूर्ण बना देता है। कुछ लोगों का कहना है कि उपन्यास-लेखक को पढ़ना न चाहिए, इससे उसकी मौलिकता मारी जाती है। पर स्वर्गीय डी० एल० राय ने कहा है — जिस लेखक की मौलिकता पुस्तकावलोकन से मारो जाती है, उसमें मौलिकता है हो नहीं। स्वाध्याय का उद्देश्य यह न होना चाहिए कि किसी कुशल लेखक के भाव और विचार उड़ाये जायें, बल्कि अपने भावों और विचारों की अन्य लेखकों से तुलना की जाय और उससे अच्छी रचना करने के लिए अपने को प्रोत्साहित किया जाय। अगर हमें किसी लेखक की रचना में ऐसा कोई स्थान दिखायी दे जहाँ उसकी कल्पना शिथिल पड़ गयी है तो हम प्रयत्न करें कि उसी के अनुरूप स्थान पर उससे अच्छा लिख सकें। लेखक को — और विशेष कर उपन्यास-लेखक को — विविध साहित्य का भली-भाँति अध्ययन किये बिना कलम न उठाना चाहिए। यह बात नहीं है कि बिना बहुत पढ़े कोई अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकता। जिन्हें ईश्वर ने प्रतिभा दी है, उनके लिए बहुत पढ़ना अनिवार्य नहीं है। लेकिन जिस प्रकार बिना व्याकरण पढ़े हुए चाहे हम शुद्ध लिखें, पर अशुद्धियों से बचने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं रहता, उसी प्रकार तुलना और स्वाध्याय से हमें अपनी त्रुटियों का बोध होता है, हमारी बुद्धि विकसित होती है और उन साधनों की झलक मिल जाती है जिनके द्वारा किसी बड़े लेखक ने सफलता प्राप्त की।

कुछ लोगों को भ्रम है कि अपने रचनाओं के विषय में किसी से कुछ पूछने या राय लेने से उसका अपमान होता है। पर वास्तव में लेखक को जिज्ञासा की उतनी ही जरूरत है, जितनी कि किसी विद्यार्थी को। फ्रान्सिस बेकन के विषय में कहा जाता है कि वह सदैव ऐसे पुरुषों से जिज्ञासा करता रहता था, जो किसी विषय में उससे अधिक ज्ञान रखते थे। कोई आदमी चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, सब विद्याओं का ज्ञाता नहीं हो सकता। उसे अगर किसी से कुछ पूछना पड़े तो संकोच क्यों करे? डी० एल० राय महोदय जब कोई ड्रामा लिखते थे, तो उसे अपने रसिक मित्रों को सुनाते थे, उनकी आलोचना का उत्तर देते थे और जहाँ कहीं कायल हो जाते थे, अपनी रचना में काट-छाँट कर देते थे। कभी उन्हें अध्याय के अध्याय और सीन के सीन बदलने पड़ जाते थे। लेखक को सदैव अपना आदर्श ऊँचा रखना चाहिए। उसके मन में यह धारणा होनी चाहिए कि या तो कुछ लिखूंगा ही नहीं, या लिखूंगा तो कोई अच्छी चीज़, जिससे बढ़कर उसी विषय पर फिर जल्द कोई न लिख सके।

कभी-कभी ऐसा होता है कि रास्ता चलते-चलते कोई नयी बात सूझ जाती है, अथवा कोई नया दृश्य आँखों के सामने से गुजर जाता है। लेखक में ऐसा गुण होना चाहिए कि वह ऐसे भावों और दृश्यों को स्मृति-पट पर अंकित कर ले और आवश्यकता पड़ने पर उनका व्यवहार करे। कुछ लेखकों की आदत होती है कि वे अपने साथ नोटबुक रखते हैं और ऐसी बातें उसमें तुरन्त टाँक लेते हैं। जिस लेखक को अपनी स्मरण-शक्ति पर विश्वास न हो उसे अपने साथ नोटबुक अवश्य रखनी चाहिए। डायरी लिखना भी अपने विचारों को लेखबद्ध करने की आदत डालता है।

प्लाट उन घटनाओं को कहते हैं जो उपन्यास के चरित्रों पर घटित हों। लेकिन केवल घटनाओं का वर्णन करने ही से कहानी में मनोरंजकता का गुण नहीं पैदा हो सकता। उन घटनाओं को कल्पना द्वारा ऐसा सजीव बनाना चाहिए कि उनमें वास्तविकता झलकने लगे। एक उपन्यासकार ने

लिखा है कि उक़्लेदिस* की भाँति हम लोगों को अपनी कथा सामने रख देनी चाहिए और तब उसके हल करने में प्रस्तुत हो जाना चाहिए। उक़्लेदिस की विचार श्रृंखला में कोई ऐसी युक्ति प्रविष्ट नहीं हो सकती, जिसके लिए वहाँ अनिवार्य रूप से स्थान न हो। हम भी उसी का अनुसरण करके उच्चकोटि के उपन्यासों की रचना कर सकते हैं। साधारणतः प्लाट वह कथा है, जो उपन्यास पढ़ने के बाद साधारण पाठक के हृदय-पट पर अंकित हो जाती है। पुराने ढंग की कथाओं में बस प्लाट ही प्लाट होता था। उसमें रंग और रोगन की मात्रा न रहती थी, इसलिए वह चित्र इतना भड़कीला न होता था। आजकल पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यास की कथा दस-पाँच पंक्तियों में ही समाप्त हो जाती है। लेकिन इन्हीं दस-पाँच पंक्तियों के सोचने में उपन्यासकार को जितना मनन और चिंतन करना पड़ता है, उतना सारा उपन्यास लिखने में भी नहीं करना पड़ता। वास्तव में प्लाट सोच लेने के बाद फिर लिखना बहुत आसान हो जाता है। लेकिन प्लाट सोचने के साथ ही चरित्रों की कल्पना भी करनी पड़ती है, जिनके द्वारा यह प्लाट प्रदर्शित किया जाय। चार्ल्स डिकेन्स के विषय में लिखा है कि जब वह किसी नये उपन्यास की कल्पना करते थे, तो महीनों तक अपने कमरे को बन्द कर विचारमग्न पड़े रहते थे, न किसी से मिलते थे, न कहीं सैर करने ही जाते थे। जब दो-तीन महीने के बाद उनके किवाड़ खुलते थे, तो उनकी दशा किसी रोगी से अच्छी न होती थी, मुख पीला, आँखें भीतर को धँसी हुईं, शरीर दुर्बल। थैकरे के विषय में लिखा हुआ है कि वह सन्ध्या समय किसी नदी के तट पर बैठकर अपने प्लाट सोचा करता था। पर प्लाट को जल्द या देर में कल्पित कर लेना लेखक की बुद्धि-सामर्थ्य पर निर्भर है। जॉर्ज सैन्ड फ्रान्स की सुविख्यात लेखिका है। उसने सौ से कम उपन्यास नहीं लिखे। पर उसे प्लाट सोचने में बुद्धि नहीं लड़ानी पड़ती थी। वह कलम हाथ में लेकर बैठ जाती थी और लिखने के साथ ही प्लाट भी बनता चला जाता था। सर वाल्टर स्काट के बारे में यही मशहूर है कि वह प्लाट सोचने में

---

* यूनानी ज्यामितिकार यूक्लिड (Euclid)

मस्तिष्क नहीं लड़ाते थे। कुछ कहानियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें कोई प्लाट ही नहीं होता। मार्क वेन का Innocents Abroad इसी ढंग का उपन्यास है।

प्लाटों की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। साधारणतः उसके छः भेद माने गये हैं —

१ — कोई अद्भुत घटना।

२ — कोई गुप्त रहस्य।

३ — मनोभाव-चित्रण।

४ — चरित्रों का विश्लेषण और तुलना।

५ — जीवन के अनुभवों को प्रकट करना।

६ — कोई सामाजिक या राजनीतिक सुधार।

(१) अद्भुत—कहानी वही अद्भुत होती है जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध हो। प्राचीन कथाएँ बहुधा इसी किस्म की होती थीं। ऐसी कहानी का उद्देश्य केवल पाठकों का मनोरंजन है! पढ़ने से कल्पना की वृद्धि होने के कारण बहुधा बालकोपयोगी कहानियों में यह प्रणाली उपयुक्त समझी जाती है। प्रौढ़ावस्था में ऐसी कहानियों में जी नहीं लगता। बहुधा नैतिक और आचरण-सम्बन्धी उपदेश भी ऐसी कहानियों द्वारा दिये जाते हैं। इंग्लैंड के विख्यात लेखक स्विफ्ट ने 'गुलीवर की यात्रा' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक में समाज पर व्यंग किया है। वह भी अद्भुत घटनाओं का ही सहारा लेता है। बहुधा दृष्टान्तों या 'ऐलीगरी' में अद्भुत घटनाओं द्वारा जीवन के गूढ़ तत्व हल किये जाते हैं। इंग्लैंड में जॉन बनियन का पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' अद्वितीय ऐलीगरी है। हमारे यहाँ प्राचीन ऋषियों ने बहुधा दृष्टान्तों द्वारा ही जन-साधारण को उपदेश दिये हैं। महाभारत, पुराण, उपनिषद् आदि में ऐसे दृष्टान्त भरे पड़े हैं। वर्तमान समय में टॉल्सटॉय और हॉथर्न ने बहुत ही शिक्षाप्रद और अनूठे दृष्टान्त रचे हैं। अतएव अप्राकृतिक घटना-प्रधान उपन्यासों की रचना यदि बहुत सरल है तो उसके साथ ही अत्यन्त कठिन भी है।

(२) गुप्त रहस्य—जासूसी के उपन्यास सब इसी श्रेणी में आते हैं।

इस प्रकार के उपन्यास लिखने में लेखक को दो बड़ी शंकाओं का सामना करता पड़ता है। सम्भव है रहस्य आरम्भ से ही खुल जाय अथवा लेखक की रहस्योद्‌घटना पाठक के संतोषप्रद न हो। भारतवर्ष में पहले ऐसी कहानियों की प्रथा न थी। योरोप में ऐसी कहानियों को लोग बड़े शौक से पढ़ते हैं। इधर कुछ दिनों से पैशाचिक घटनाएँ भी रहस्यों द्वारा प्रकट की जाने लगी हैं। इंगलैंड में कॉनन डायल इस श्रेणी के उपन्यासकारों में बहुत सिद्धहस्त हैं, फ्रान्स में मार्स लेब्लांक और अमरीका में पो। कॉनन डायल अभी जीवित हैं और अब आपराधिक विषयों की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति है। जासूसी उपन्यासों के लेखक कोई घटना सोचकर एक कल्पित जासूस को उसके सुलझाने में लगा देता है। ऐसी घटनाओं में सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उस घटना या रहस्य का खोलना ज़ाहिरा असम्भव प्रतीत हो, पर लेखक जब उसे खोल दे तो पाठक को आश्चर्य हो कि मुझे यह बात क्यों न सूझी, यह तो बिल्कुल साधारण बात थी। इसके साथ, पाठक उस रहस्य को किसी दूसरी रीति से खोलने में असमर्थ हो। लेखन का कौशल इस बात में है कि जिस चरित्र को पाठक और लेखक स्वयं दोषी समझते हों वह अंत में निरपराध सिद्ध हो जाये। ऐसे उपन्यास बहुत ही रोचक होते हैं और उनके पढ़ने से बुद्धि तीव्र होती है, कठिन समस्याओं में दिमाग लड़ाने की शक्ति पैदा होती है। मगर उनका लिखना इतना कठिन है कि अब तक हिन्दी में सिवा कॉनन डायल या अन्य लेखकों की कहानियों के अनुवाद के किसी ने स्वतन्त्र कल्पना नहीं की।

(३) मनोभाव का चित्रण — ऐसे उपन्यासों के लेखकों का ध्यान घटना-वैचित्र्य की ओर बहुत कम रहता है। वह ऐसी ही घटनाओं की आयोजना करता है जिनमें उसके चरित्रों को अपने मनोभावों के प्रकट करने का अवसर मिले। घटनाएँ कम होती हैं, पात्रों के विचार अधिक। टॉल्सटॉय के उपन्यासों में यही गुण प्रधान है। ऐसे उपन्यासों को रचने के लिए आवश्यक है कि लेखक अपने को विभिन्न अवस्थाओं में रख सके। इस प्रकार की कहानियों में लेखक का पाठकों के सामने अनिवार्य रूप से

अधिकतर अपना ही हृदय खोलकर रखना पड़ता है। दूसरों के मनोगत भावों को जानने का उसके पास और क्या साधन हो सकता है? कोई अपने मन का भाव किसी से नहीं कहता, बल्कि और छिपाता है। अगर किसी को किसी मित्र के मनोभावों का ज्ञान हो भी सकता है, तो बहुत कम। इसलिए ऐसे उपन्यास लिखना लोहे के चने चबाना है। उपन्यास-कार को नित्य अपने अंतर की ओर ध्यान रखना पड़ता है। जार्ज इलियट के उपन्यास अधिकतर इसी श्रेणी के हैं।

(४) चरित्रों का विश्लेषण और (५) जीवन के अनुभवों को प्रकट करना — इन दोनों प्रकारों के उपन्यास लिखने के लिए जरूरी है कि लेखक में दिव्य कल्पना-शक्ति के साथ अवलोकन और निरीक्षण की भो प्रचुर मात्रा हो। इसीलिए कहा गया है कि उपन्यासकार को सभी श्रेणी के मनुष्यों से मिलना-जुलना आवश्यक है। उसे अपनी आँखें और कान सदैव खुले रखने चाहिए। एक ही परिस्थिति में दो भिन्न-भिन्न विचारों के व्यक्ति क्या करते हैं, एक ही घटना दोनों को किस प्रकार प्रभावित करतो है, इसका निरूपण सहज नहीं है। अनुभव वाह्य जगत्-सम्बन्धी भी होते हैं और अंतर-जगत-सम्बन्धी भी। लेखक को प्राकृतिक दृश्यों का, विचित्र घटनाओं का बड़े ध्यान से अवलोकन करना चाहिए। प्रातःकाल समीर के झोंकों में नदी की तरंगों की कैसी छटा होती है, आकाश कौन-कौन से रूप धारण करता है, ऐसे अगणित दृश्य सफलता के साथ वहीं लिख सकता है जिसने स्वयं उनको गौर से देखा हो। केवल कल्पना यहाँ काम नहीं दे सकती। लाज़िम है कि लेखक वही दृश्य दिखावे, उन्हीं चरित्रों की तुलना करे, जिनका उसने स्वयं अनुभव किया हो। जिसने समुद्र नहीं देखा, वह किसी बंदर का दृश्य क्योंकर लिखेगा? जिसने ग्रामीणों की संगति नहीं की, वह ग्रामीण जीवन का चित्र क्योंकर खींच सकता है? यही सफलता प्राप्त करने के लिए योरोप के कई विख्यात उपन्यासकारों ने वेश बदल-कर उन स्थितियों का अध्ययन किया है, जिनके आधार पर वे अपना उपन्यास लिखना चाहते थे।

(६) कोई सामाजिक या राजनैतिक सुधार — किसी उद्देश्य विशेष से

लिखे गये उपन्यासों की संख्या आजकल सभी भाषाओं में बहुत अधिक है। उर्दू में भी ऐसे कितने ही उपन्यास हैं, मुख्य भाषाओं का तो कहना ही क्या? आजकल 'सुधार-सुधार' के घोर नाद से सारा वायुमंडल निनादित हो रहा है। कहीं पुलिस के सुधार की चर्चा है, कहीं कारागारों की, कहीं न्यायालयों की, कहीं सामाजिक प्रथाओं की, कहीं शिक्षा-पद्धति की। यह विवादास्पद विषय है कि उपन्यास किसी उद्देश्य से लिखना चाहिए या नहीं। प्रवीण समालोचकगण की राय में साहित्य का उद्देश्य केवल भाव-चित्रण ही होना चाहिए। उद्देश्य से लिखी हुई कहानियों में बहुधा लेखक को विवश होकर असंगत बातें कहलानी पड़ती हैं, अनावश्यक घटनाओं की आयोजना करनी पड़ती है, और सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसे उपदेशक का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। मगर रसिक समाज किसी से उपदेश लेना नहीं चाहता, उसे उपदेशों से अरुचि है और उपदेशकों से घृणा। वह केवल मनोरंजन और मनोदर्शन चाहता है। पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि गत शताब्दी में पाश्चात्य देशों में जितने सुधार हुए हैं, उनमें अधिकांश का बीजारोपण उपन्यासों के ही द्वारा किया गया था। डिकेंस के प्रायः सभी उपन्यास, टॉल्सटॉय के कई उत्तम उपन्यास, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनेव, बालज़क, ह्यूगो, मेरी करेली, ज़ोला आदि प्रधान उपन्यासकारों ने सुधारों ही के उद्देश्य से अपने ग्रन्थ रचे हैं। हाँ, कुशल लेखक का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह सुधार के जोश में कथा की रोचकता को कम न होने दे। वह उपन्यास और अपने चरित्रों को उन्हीं परिस्थितियों में रखे जिनको वह सुधारना चाहता है। यह भी परमावश्यक है कि वह सुधार के विषय को खूब सोच ले, और अत्युक्ति से काम न ले, नहीं तो उसका प्रयास कभी सफल न हो सकेगा। लेखक वृन्द प्रायः अपने काल के विधाता होते हैं। उनमें अपने देश को, अपने समाज को दुख, अन्याय तथा मिथ्यावाद से मुक्त करने की प्रबल आकांक्षा होती है। ऐसी दशा में असम्भव है कि वह समाज को अपने मनमाने मार्ग पर चलने दे और स्वयं खड़ा हाथ पर हाथ रखे देखता रहे। वह अगर और कुछ नहीं कर सकता, तो कलम तो चला ही सकता

है। शेक्सपियर और कालिदास के समय में सुधार की आवश्यकता आज से कम न थी, लेकिन उस समय राजनीतिक ज्ञान का इतना प्रसार न था। रईस लोग भोग-विलास करते थे, कवि और लेखक उनकी विलास-वृत्तियों को और उत्तेजित करते थे। प्रजा पर क्या गुजरती है, इधर किसी का ध्यान न था। यह समय जीवन-संग्राम का है। आज हम जो शिक्षित कहलाते हैं, तटस्थ होकर अन्याय होते नहीं देख सकते।

प्लाट का महत्व जानने के बाद अब हम यह जानना चाहेंगे कि अच्छे प्लाट में कौन-कौन सी बातें होनी चाहिए। समालोचकों के मतानुसार वे ये हैं — सरलता, मौलिकता, रोचकता।

प्लाट सरल होना चाहिए। बहुत उलझा हुआ, पेचीदा, शैतान की आँत, पढ़ते-पढ़ते जी उकता जाय, ऐसे उपन्यास को पाठक ऊबकर छोड़ देता है। एक प्रसंग अभी पूरा नहीं होने पाया कि दूसरा आ गया, वह अभी अधूरा ही था कि तीसरा प्रसंग आ गया, इससे पाठक का चित्त चकरा जाता है। पेचीदा प्लाट की कल्पना इतनी मुश्किल नहीं है, जितनी किसी सरल प्लाट की। सरल प्लाट में बहुत-से चरित्रों की कल्पना नहीं करनी पड़ती, इसीलिए लेखक को अल्पसंख्यक चरित्रों के भाव-विचार, गुण-दोष, आचार-व्यवहार को सूक्ष्म रूप से दिखाने का अवसर मिल जाता है, इससे उसके चरित्रों में सजीवता आ जाती है और वह पाठक के हृदय पर अपना अच्छा या बुरा असर छोड़ जाते हैं। यह बात बहुसंख्यक चरित्रों के साथ नहीं प्राप्त हो सकती। प्लाट में मौलिकता का होना भी जरूरी है। जिस बात या विषय को अन्य लेखकों ने लिख डाला हो, उसे कुछ हेर-फेर करके अपना प्लाट बनाने की चेष्टा करना अनुपयुक्त है। प्रेम, वियोग आदि विषय इतनी बार लिखे जा चुके हैं कि उनमें कोई नवीनता नहीं बाकी रही। अब तो पाठक कहानियों में नये भावों का, नये विचारों का, नये चरित्रों का दिग्दर्शन चाहते हैं। अतः 'शुकबहत्तरी' से पाठकों को तस्कीन नहीं होती। प्लाट में कुछ न कुछ ताज़गी, कुछ न कुछ अनोखापन अवश्य होना चाहिए। रही रोचकता, वह मौलिकता की सहगामिनी है। मौलिक प्लाट है तो वह रोचक भी

जरूर ही होगा। लेकिन कहानी की रोचकता किसी एक बात पर निर्भर नहीं है। प्लाट की सुन्दरता, चरित्रों का चित्रण, घटना-वैचित्र्य सभी सम्मिश्रित हो जाते हैं तो रोचकता आप ही आप आ जाती है। हाँ, उपन्यासकार यह कभी नहीं भूल सकता कि उसका प्रधान कर्त्तव्य पाठकों का गम ग़लत करना, उनका मनोरंजन करना है। और सभी बातें इसके आधीन हैं। जब पाठक का जी ही कहानी में न लगा तो वह क्या लेखक के भावों को समझेगा? क्या उसके अनुभवों से लाभ उठायेगा? वह घृणा के साथ किताब को पटक देगा और सदा के लिए उपन्यासों का निंदक हो जायेगा। आज भी कितने ही ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जिन्हें उपन्यासों से चिढ़ है। उन्होंने व्रत कर लिया है कि उपन्यास कदापि न पढ़ेंगे। कारण यही है कि हिन्दी के वर्तमान उपन्यासों ने उन्हें निराश कर दिया है। नये उपन्यास-लेखकों का कर्त्तव्य है कि वे उपन्यास-साहित्य के मुख को उज्ज्वल करें, इस बदनामी के दाग़ को मिटा दें।

साहित्य में समालोचना

साहित्य में समालोचना का जो महत्व है उसको बयान करने की जरूरत नहीं। सद्-साहित्य का निर्माण बहुत गम्भीर समालोचना पर ही मुनहसर है। योरप में इस युग को समालोचना का युग कहते हैं। वहाँ प्रतिवर्ष सैकड़ों पुस्तकें केवल समालोचना के विषय की निकलती रहती हैं, यहाँ तक कि ऐसे ग्रन्थों का प्रचार, प्रभाव और स्थान क्रियात्मक रचनाओं से किसी प्रकार घटकर नहीं है। कितने ही पत्रों और पत्रिकाओं में स्थायी रूप से आलोचनायें निकलती रहती हैं; लेकिन हिन्दी में या तो समालोचना होती ही नहीं या होती है तो द्वेष या झूठी प्रशंसा से भरी हुई अथवा ऊपरी, उथली और बहिर्मुखी। ऐसे समालोचक बहुत कम हैं जो किसी रचना की तह में डूबकर उसका तात्विक, मनोवैज्ञानिक विवेचन कर सकें। हाँ, कभी-कभी प्राचीन ग्रन्थों की आलोचना नजर आ जाती है जिसे सही मानों में समालोचना कह सकते हैं, मगर हम तो इसे साहित्यिक मुर्दापरस्ती ही कहेंगे। प्राचीन कवियों और साहित्याचार्यों का यशोगान हमारा धर्म है, लेकिन जो प्राणी केवल अतीत में रहे, पुरानी सम्पदा का ही स्वप्न देखता रहे और अपने सामने आनेवाली बातों की तरफ से आँखें बन्द कर ले, वह कभी अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है, इसमें हमें सन्देह है। पुरानों ने जो कुछ लिखा, सोचा और किया, वह पुरानी दशाओं और परिस्थितियों के आधीन किया। नये जो कुछ लिखते, सोचते या करते हैं, वह वर्तमान परिस्थितियों के आधीन करते हैं। इनकी रचनाओं में वही भावनायें और आकांक्षायें होती हैं जिनसे वर्तमान युग आन्दोलित

हो रहा है। यदि हम पुराने विशाल खण्डहरों ही को प्रतिमा की भाँति पूजते रहें और अपनी नई झोपड़ी की बिल्कुल चिन्ता न करें तो हमारी क्या दशा होगी, इसका हम अनुमान कर सकते हैं।

आइए देखें इस अभाव का कारण क्या है। हिन्दी-साहित्य में ऐसे लेखकों की ईश्वर की दया से कमी नहीं है जो संसार साहित्य से परिचित हैं, साहित्य के मर्मज्ञ हैं, साहित्य के तत्वों को समझते हैं। साहित्य का पथ-प्रदर्शन उन्हीं का कर्तव्य है। लेकिन या तो वह हिन्दी पुस्तकों की आलोचना करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं या उन्हें हिन्दी-साहित्य में कोई चीज आलोचना के योग्य मिलती ही नहीं या फिर हिन्दी भाषा उन्हें अपने गहरे विचारों को प्रकट करने के लिए काफी नहीं मालूम होती। इन तीनों ही कारणों में कुछ न कुछ तत्व है, मगर इसका इलाज क्या हिन्दी-साहित्य से मुँह मोड़ लेना है ? क्या आँखें बन्द करके बैठ जाने से ही सारी विपत्ति-बाधायें टल जाती हैं ? हमें साहित्य का निर्माण करना है, हमें हिन्दी को भारत की प्रधान भाषा बनाना है, हमें हिन्दी द्वारा राष्ट्रीय एकता की जड़ जमाना है। क्या इस तरह उदासीन हो जाने से ये उद्देश्य पूरे होंगे ? योरोपीय भाषाओं की इसीलिए उन्नति हो रही है कि वहाँ दिमाग़ और दिल रखनेवाले व्यक्ति उससे दिलचस्पी रखते है, बड़े-बड़े पदाधिकारी, लीडर, प्रोफेसर और धर्म के आचार्य साहित्य की प्रगति से परिचित रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। यही नहीं बल्कि अपने साहित्य से प्रेम उनके जीवन का एक अंग है, उसी तरह जैसे अपने देश के नगरों और दृश्यों की सैर। लेकिन हमारे यहाँ चोटी के लोग देशी साहित्य की तरफ ताकना भी हेय समझते हैं। कितने ही तो बड़े रोब से कहते हैं, हिन्दी में रखा ही क्या है। अगर कुछ गिने-गिनाये लोग हैं भी तो वह समझते हैं इस क्षेत्र में आकर हमने एहसान किया है। वह यह आशा रखते हैं कि हिन्दी संसार उनकी हर एक बात को आँखें बन्द करके स्वीकार करे, उनके कलम से जो कुछ निकले, ब्रह्मवाक्य समझा जाय। वह शायद समझते हैं, मौलिकता उपाधियों से आती है। वह यह भूल जाते हैं कि बिरला ही कोई उपाधिकारी मौलिक होता है। उपाधियाँ जानी हुई और पढ़ी हुई बातों के प्रदर्शन या परिवर्तन से मिलती हैं।

मौलिकता इसके सिवा और भी है। अगर कोई 'डाक्टर' या 'प्रोफ़ेसर' लिखे तो शायद ऊँचे मस्तिष्कवालों की यह बिरादरी उसका स्वागत करे। लेकिन दुर्भाग्य-वश हिन्दी के अधिकांश लेखक न डाक्टर हैं, न फ़िलासफ़र, फिर उनकी रचनायें कैसे सम्मान पायें और कैसे आलोचना के योग्य समझी जायें। किसी वस्तु की प्रशंसा तो और बात है, निन्दा भी कुछ न कुछ उसका महत्व बढ़ाती है। वह निन्दा के योग्य तो समझी गई। हमारी यह दिमाग़वालों की बिरादरी किसी रचना की प्रशंसा तो कर ही नहीं सकती; क्योंकि इससे उसकी हेठी होती है, दुनिया कहेगी, यह तो शा और शेली शिलर की बातें किया करते थे, उस आकाश से इतने नीचे कैसे गिर गये! हिन्दी में भी कोई ऐसी चीज हो सकती है, जिसकी ओर वह आँखें उठा सके, यह उनकी शिक्षा और गौरव के लिए लज्जास्पद है। बेचारे ने तीन वर्ष पेरिस और लन्दन की खाक छानी, इसीलिये कि हिन्दी लेखकों की आलोचना करे! फारसी पढ़कर भी तेल बेचे! हम ऐसे कितने ही सज्जनों को जानते हैं जो डाक्टर या डी० लिट्० होने के पहले हिन्दी में लिखते थे; लेकिन जब से डाक्टरेट की उपाधि मिली, वह पतंग की भाँति आकाश में उड़ने लगे। आलोचना-साहित्य की उनके द्वारा पूर्ति हो सकती थी, क्योंकि रचना के लिये चाहे विशेष शिक्षा की जरूरत न हो, आलोचना के लिये संसार-साहित्य से परिचित होने की ज़रूरत है। हमारे पास कितने ही युवक लेखकों की रचनायें, प्रकाशित होने के पहले, सम्मति के लिये आती रहती हैं। लेखक के हृदय में भाव है, मस्तिष्क में विचार हैं, कुछ प्रतिभा है, कुछ लगन, कुछ संस्कार, उसे केवल एक अच्छे सलाहकार की ज़रूरत है। इतना सहारा पाकर वह कुछ से कुछ हो जा सकता है; लेकिन यह सहारा उसे नहीं मिलता। न कोई ऐसे व्यक्ति हैं, न समिति, न मंडल। केवल पुस्तक-प्रकाशकों की पसन्द का भरोसा है: उसने रचना स्वीकार कर ली, तो खैर, नहीं सारी कीकराई मेहनत पर पानी फिर गया। प्रेरक शक्तियों में यशोलिप्सा शायद सबसे बलवान है। जब यह उद्देश्य पूरा भी नहीं होता, तो लेखक कंधा डाल देता है और इस भाँति न जाने कितने गुदड़ी के रत्न छिपे रह जाते हैं। या फिर वह प्रकाशक महोदय के आदेशानुसार लिखना शुरू करता

है और इस तरह कोई नियन्त्रण न होने के कारण, साहित्य में कुरुचि बढ़ती जाती है। इस तरफ जैनेन्द्रकुमार जी की 'परख', प्रसादजी का 'कंकाल', प्रतापनारायणजी की 'विदा', निरालाजी की 'अप्सरा', वृन्दावनलालजी का 'गढ़कुण्डार' आदि कई सुन्दर रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। मगर इनमें से एक की भी गहरी, व्यापक, तात्त्विक आलोचना नहीं निकली। जिन महानुभावों में ऐसी आलोचना की सामर्थ्य थी, उन्हें शायद इन पुस्तकों की खबर भी नहीं हुई। इनसे कहीं घटिया किताबें अंग्रेज़ी में निकलती रहती हैं और उन्हें ऊँची बिरादरी वाले सज्जन शौक से पढ़ते और संग्रह करते हैं; पर इन रत्नों की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हुआ। प्रशंसा न करते, दोष तो दिखा देते, ताकि इनके लेखक आगे के लिये सचेत हो जाते, पर शायद इसे भी वे अपने लिये ज़लील समझते हैं। इंगलैण्ड का रामज़े मैकेडानेल्ड या बौनर ला अंग्रेज़ी साहित्य पर प्रकाश डालनेवाला व्याख्यान दे सकता है; पर हमारे नेता खद्दर पहनकर अँग्रेजी लिखने और बोलने में अपना गौरव समझते हुए, हिन्दी-साहित्य का अलिफ़ बे भी नहीं जानते। यह इसी उदासीनता का नतीजा है, कि 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' जैसा भावशून्य गीत हमारे राष्ट्रीय जीवन में इतना प्रचार पा रहा है। 'वन्देमातरम्' को यदि 'विजयी विश्व' के मुक़ाबले में रखकर देखिए, तो आपको विदित होगा कि आपकी लापरवाही ने हिन्दी-साहित्य को आदर्श से कितना नीचे गिरा दिया है। जहाँ अच्छी चीज की क़द्र करनेवाले और परखनेवाले नहीं हैं वहाँ नकली, घटिया, जटियल चीज़ें ही बाज़ार में आवें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में हमारे यहाँ साहित्यिक जीवन का पता ही नहीं। नीचे से ऊपर तक मुरदनी-सी छाई हुई है। यही मुख्य कारण है कि हिन्दी लेखकों में बहुत से ऐसे लोग आ गये हैं, जिनका स्थान कहीं और था। और, जब तक शिक्षित समुदाय अपने साहित्यिक कर्तव्य की यों अवहेलना करता रहेगा, यही दशा बनी रहेगी। जहाँ साहित्य सम्मेलन जैसी सार्वजनिक संस्था के सदस्यों की कुल संख्या दो सौ से अधिक नहीं, वहाँ का साहित्य बनने में अभी बहुत दिन लगेंगे।

●

साहित्य और मनोविज्ञान

साहित्य का वर्तमान युग मनोविज्ञान का युग कहा जा सकता है। साहित्य अब केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। वह अब केवल विरह और मिलन के राग नहीं अलापता। वह जीवन की समस्याओं पर विचार करता है, उनकी आलोचना करता है और उनको सुलझाने की चेष्टा करता है।

नीति शास्त्र और साहित्य का कार्य-क्षेत्र एक है, केवल उनके रचना विधान में अन्तर है। नीतिशास्त्र भी जीवन का विकास और परिष्कार चाहता है, साहित्य भी। नीतिशास्त्र का माध्यम तर्क और उपदेश है। वह युक्तियों और प्रमाणों से बुद्धि और विचार को प्रभावित करने की चेष्टा करता है। साहित्य ने अपने लिए मनो-भावनाओं का क्षेत्र चुन लिया है। वह उन्हीं तत्वों को रागात्मक व्यंजना के द्वारा हमारे अंतस्तल तक पहुँचाता है। उसका काम हमारी सुन्दर भावनाओं को जगाकर उनमें क्रियात्मक शक्ति की प्रेरणा करना है। नीतिशास्त्री बहुत से प्रमाण देकर हमसे कहता है, ऐसा करो, नहीं तुम्हें पछताना पड़ेगा। कलाकार उसी प्रसंग को इस तरह हमारे सामने उपस्थित करता है कि उससे हमारा निजत्व हो जाता है, और वह हमारे आनन्द का विषय बन जाता है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं लेकिन मेरे विचार में उसकी सबसे सुन्दर परिभाषा जीवन की आलोचना है। हम जिस रोमानियत के युग से गुज़रे हैं, उसे जीवन से कोई सम्बन्ध न था। साहित्यकारों में एक दल तो वैराग्य की दुहाई देता था, दूसरा शृंगार में डूबा हुआ था।

पतन काल में प्रायः सभी साहित्यों का यही हाल होता है। विचारों की शिथिलता ही पतन का सबसे मनहूस लक्षण है। जब समाज का मस्तिष्क अर्थात् पढ़ा-लिखा शासक भाग, विषय-भोग में लिप्त हो जाता है, तो विचारों की प्रगति रुक जाती है और अकर्मण्यता का अड्डा जमने लगता है। यों तो इतिहास के उज्ज्वल युगों में भी भोग-वृत्ति की कमी कभी नहीं रही ; मगर फर्क इतना ही है कि एक दशा में तो भोग हमें कर्म के लिए उत्तेजित करता है, दूसरी दशा में वह हमें पस्तहिम्मत और विचारशून्य बना डालता है। समाज इन्द्रियसुख में इतना डूब जाता है कि उसे किसी बात की चिन्ता नहीं रहती। उसकी दशा उस शराबी-सी हो जाती है, जिसमें केवल शराब पीने की चेतना रह जाती है। उसकी आत्मा इतनी दुर्बल हो जाती है कि शराब का आनन्द भी नहीं उठा सकती। वह पीता है केवल पीने के लिए, आनन्द के लिए नहीं। जब शिक्षित समाज इस दशा में आ जाता है तो साहित्य पर उसका असर कैसे न पड़े। जब कुछ लोग भोग में डूबेंगे, तो कुछ लोग वैराग्य में भी डूबेंगे ही। क्रिया की प्रतिक्रिया तो होती ही है। चकले और मठ एक दूसरे के जवाब हैं। ये मठ न होते तो चकले भी न होते। ऐसे युग में रोमान ही साहित्यकला का आधार था लेकिन अब हालतें बड़ी तेज़ो से बदलती जा रही हैं। आज का साहित्यकार जीवन के प्रश्नों से भाग नहीं सकता। अगर सामाजिक समस्याओं से वह प्रभावित नहीं होगा, अगर वह हमारे सौन्दर्य-बोध को जगा नहीं सकता, अगर वह हममें भावों और विचारों की स्फूर्ति नहीं डाल सकता, तो वह इस ऊँचे पद के योग्य नहीं समझा जाता। पुराने जमाने में पंथों के हाथ में समाज की बागडोर थी। हमारा मानसिक और नैतिक संस्कार धर्म के आदेशों का अनुगामी था। अब यह भार साहित्य ने अपने ऊपर ले लिया है। धर्म भय या लोभ से काम लेता था। स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य, उसके यन्त्र थे। साहित्य हमारी सौंदर्य-भावना को सजग करने की चेष्टा करता है। मनुष्य-मात्र में यह भावना होती है। जिसमें यह भावना प्रबल होती है, और उसके साथ ही उसे प्रकट करने का सामर्थ्य भी होता है, वह साहित्य का उपासक बन जाता है। यह भावना उसमें इतनी तीव्र

हो जाती है कि मनुष्य में, समाज में, प्रकृति में, जो कुछ असुन्दर, असौम्य, असत्य है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है, और वह अपनी सौंदर्य-भावना से व्यक्ति और समाज में सुरुचिपूर्ण जागृति डाल देने के लिए व्याकुल हो जाता है। यों कहिए कि वह मानवता का, प्रगति का, शराफत का वकील है। जो दलित हैं, मर्दित हैं, जख्मी हैं, चाहे वे व्यक्ति हों या समाज उनकी हिमायत और वकालत उसका धर्म है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है और अदालत की सत्य और न्याय-बुद्धि और उसकी सौन्दर्य-भावना को प्रभावित करके ही वह सन्तोष प्राप्त करता है। पर साधारण वकीलों की तरह वह अपने मुवक्किल की तरफ़ से जा और बेजा दावे नहीं पेश करता कुछ बढ़ाता नहीं, कुछ घटाता नहीं, न गवाही को सिखाता-पढ़ाता है। वह जानता है, इन हथकण्डों से वह समाज की अदालत में विजय नहीं पा सकता। इस अदालत में तो तभी सुनवाई होगी, जब आप सत्य से जौ-भर भी न हटें, नहीं अदालत उसके खिलाफ़ फैसला कर देगी और इस अदालत के सामने वह मुवक्किल का सच्चा रूप तभी दिखा सकता है, जब वह मनोविज्ञान की सहायता ले। अगर वह खुद उसी दलित-समाज का एक अंग है, तब तो उसका काम कुछ आसान हो जाता है क्योंकि वह अपने मनोभावों का विश्लेषण करके अपने समाज की वकालत कर सकता है। लेकिन अधिकतर वह अपने मुवक्किल की आन्तरिक प्रेरणाओं से, उसके मनोगत भावों से अपरिचित होता है। ऐसी दशा में उसका पथ-प्रदर्शक मनोविज्ञान के सिवा कोई और नहीं हो सकता। इसलिए साहित्य के वर्तमान युग को हमने मनोविज्ञान का युग कहा है। मानव-बुद्धि की विभिन्नताओं को मानते हुए भी हमारी भावनाएँ सामान्यतः एक रूप होती हैं। अन्तर केवल उनके विकास में होता है। कुछ लोगों में उनका विकास इतना प्रखर होता है कि वह क्रिया के रूप में प्रकट होता है वर्ना अधिकतर सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है। साहित्य इन भावनाओं को सुषुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में लाने की चेष्टा करता है। पर इस सत्य को वह कभी नहीं भूल सकता कि मनुष्य में जो मानवता और सौंदर्य-भावना छिपी हुई रहती है, वहीं

उसका निशाना पड़ना चाहिए। उपदेश और शिक्षा का द्वार उसके लिए बन्द है। हाँ, उसका उद्देश्य अगर सच्चे भावावेश में डूबे हुए शब्दों से पूरा होता है, तो वह उनका व्यवहार कर सकता है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ

प्यारे मित्रो,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आपको सौ जबानों से धन्यवाद देना चाहता हूँ ; क्योंकि आपने मुझे वह चीज दी है, जिसके मैं बिलकुल अयोग्य हूँ। न मैंने हिन्दी-साहित्य पढ़ा है, न उसका इतिहास पढ़ा है, न उसके विकासक्रम के बारे में ही कुछ जानता हूँ। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाय, तो वह आदमी नहीं है। नेवता पाकर मैंने उसे तुरन्त स्वीकार किया। लोगों में 'मन भाये और मुँड़िया हिलाये' की जो आदत होती है वह खतरा मैं न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मैं यहाँ वह काम करने खड़ा हुआ हूँ, जिसकी मुझ में लियाकत नहीं है ; लेकिन इस तरह की गंदुमनुमाई का मैं अकेला मुजरिम नहीं हूँ। मेरे भाई घर-घर में, गली-गली में मिलेंगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप-शनाप बकूँ, उसकी खूब तारीफ कीजिये, उसमें जो अर्थ न हो वह पैदा कीजिये, उसमें अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिए — जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ !

आपकी सभा ने पन्द्रह-सोलह साल के मुख्तसर-से समय में जो काम कर दिखलाया है, उस पर मैं आपको बधाई देता हूँ, खासकर इसलिए कि आपने अपनी ही कोशिशों से यह नतीजा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुँह नहीं ताका। यह आपके हौसलों की बुलन्दी की एक मिसाल है। अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग हैं, तो वह

मुबालगा न होगा। किसी अन्य प्रान्त में इतना अच्छा संगठन हो सकता है और इतने अच्छे कार्यकर्त्ता मिल सकते हैं, इसमें मुझे सन्देह है। जिन दिमागों ने अँग्रेजी राज्य की जड़ जमाई, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अँग्रेजी आचार-विचार में भारत में अग्रगण्य थे और हैं; वे लोग राष्ट्रभाषा के उत्थान पर कमर बाँध लें, तो क्या कुछ नहीं कर सकते ? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमागों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्र-भाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नजर आते हैं और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहाँ से राष्ट्रीयता की तरंगें उठ रही हैं। जिन लोगों ने अँग्रेजी लिखने और बोलने में अँग्रेजों को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिये अँग्रेजी पत्रों के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान् मिलेंगे, वे अगर चाहें तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दी वालों को भी मात कर सकते हैं। और गत वर्ष यात्रीदल के नेताओं के भाषण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गयी है। 'हिन्दी-प्रचारक' में अधिकांश लेख आप लोगों ही के लिखे होते हैं और उनकी मँजी हुई भाषा और सफाई और प्रवाह पर हममें से बहुतों को रश्क आता है। और यह तब है जब राष्ट्रभाषा प्रेम अभी दिलों के ऊपरी भाग तक ही पहुँचा है, और आज भी यह प्रान्त अँग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नहीं चाहता। जब यह प्रेम दिलों में व्याप्त हो जायगा, उस वक्त उसकी गति कितनी तेज होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है ? हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह इतने नंगे रूप में नहीं नजर आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग में अँग्रेजी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूंग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सकें, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा। कैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ होती है, उतनी और किसी बात से नहीं होती। कैदखाना शायद उसके घर से ज्यादा हवादार, साफ-सुथरा होगा। भोजन भी वहाँ शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वा-

दिष्ट मिलता हो। बाल-बच्चों से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसों अलग रहता है। उसके दण्ड की याद दिलानेवाली चीज यही बेड़ी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते, हँसते-बोलते, कभी उसका साथ नहीं छोड़ती, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आजाद है। पैरों से कहीं ज्यादा उसका असर कैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नहीं पाता, कभी मन की मिठाई भी नहीं खाने पाता। अँग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमारे मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमें इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है। यह उसका रोटियों का सवाल है। और अगर रोटियों के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाय, तो क्या कहना! प्रभुता की इच्छा तो प्राणी-मात्र में होती है। अँग्रेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुण्ड की तरह उस द्वार के अन्दर घुसकर जमीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाये; उसे गुलशन की हवा नसीब नहीं। मजा यह है कि इस झुण्ड की फड़-फड़ाहट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल जरा मनोरंजन के लिए है। [उसके पर निर्जीव हो गये, और उसमें उड़ने की शक्ति नहीं रही; वह भरोसा भी नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं। अब तो वही कफ़स है, वही कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रो, विदेशी भाषा सीखकर अपने गरीब भाइयों पर रोब जमाने के दिन बड़ी तेजी से बिदा होते जा रहे हैं। प्रतिभा का और बुद्धि-बल का जो दुरुपयोग हम सदियों से करते आये हैं, जिसके बल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अब बदलती जा रही है। बुद्धि-बल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौंस जमाना नहीं, उसका खून चूसना नहीं, उसकी सेवा करना है। आज शिक्षित समुदाय पर से जनता का विश्वास उठ गया है। वह उसे उससे अधिक विदेशी समझती है, जितना विदेशियों को। क्या कोई आश्चर्य है कि यह समुदाय

आज दोनों तरफ से ठोकरें खा रहा है ? स्वामियों की ओर से इसलिये कि वह समझते हैं — मेरी चौखट के सिवा इनके लिए और कोई आश्रय नहीं, और जनता की ओर से इसलिए कि उनका इससे कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं। उनका रहन-सहन, उनकी बोलचाल उनकी वेश-भूषा, उनके विचार और व्यवहार सब जनता से अलग हैं और यह केवल इसलिए कि हम अंग्रेजी भाषा के गुलाम हो गये। मानो परिस्थिति ऐसो है कि बिना अंग्रेजी भाषा की उपासना किये काम नहीं चल सकता। लेकिन अब तो इतने दिनों के तजरबे के बाद मालूम हो जाना चाहिये कि इस नाव पर बैठकर हम पार नहीं लग सकते, फिर हम क्यों आज भी उसी से चिमटे हुए हैं ? अभी गत वर्ष एक इंटरयुनिवर्सिटी कमीशन बैठा था कि शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करे। उसमें एक प्रस्ताव यह भी था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी की जगह पर मातृ-भाषा क्यों न रखी जाय। बहुमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्यों ? इसलिए कि अंग्रेजी माध्यम के बगैर अंग्रेजी में हमारे बच्चे कच्चे रह जायँगे और अच्छी अंग्रेजी लिखने और बोलने में समर्थ न होंगे। मगर इन डेढ़ सौ वर्षों की घोर तपस्या के बाद आज तक भारत ने एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसका इंगलैण्ड में उतना भी मान होता, जितना एक तीसरे दर्जे के अंग्रेजी लेखक का होता है। याद नहीं, पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने कहा था, या सर तेजबहादुर सप्रू ने, कि पचास साल तक अंग्रेजी से सिर मारने के बाद आज भी उन्हें अंग्रेजी में बोलते वक्त यह संशय होता रहता है कि कहीं उनसे गलती तो नहीं हो गयी ! हम आँखें फोड़-फोड़कर और कमर तोड़-तोड़कर और रक्त जला-जलाकर अंग्रेजी का अभ्यास करते हैं, उसके मुहावरे रटते हैं ; लेकिन बड़े से बड़े भारतीय-साधक की रचना विद्यार्थियों की स्कूली एक्सरसाइज से ज्यादा महत्त्व नहीं रखती। अभी दो-तीन दिन हुए पंजाब के ग्रेजुएटों की अंग्रेजी योग्यता पर वहाँ के परीक्षकों ने यह आलोचना की है कि अधिकांश छात्रों में अपने विचारों के प्रकट करने की शक्ति नहीं है, बहुत तो स्पेलिंग में गलतियाँ करते हैं। और यह नतीजा है कम से कम बारह साल तक आँखें फोड़ने का। फिर भी हमारे लिए

शिक्षा का अंग्रेजी माध्यम जरूरी है, यह हमारे विद्वानों की राय है। जापान, चीन और ईरान में तो शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी नहीं है। फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात में हमसे कोसों आगे हैं, लेकिन अंग्रेजी माध्यम के बगैर हमारी नाव डूब जायगी। हमारे मारवाड़ी भाई हमारे धन्यवाद के पात्र हैं कि कम से कम जहाँ तक व्यापार में उनका सम्बन्ध है; उन्होंने कौमियत की रक्षा की है।

मित्रो, शायद मैं अपने विषय से बहक गया हूँ; लेकिन मेरा आशय केवल यह है कि हमें मालूम हो जाय, हमारे सामने कितना महान् काम है। यह समझ लीजिये कि जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायँगे। मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़, समुद्र और राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बन्धन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है, और उसका शीराजा बिखरने नहीं देती। जिस वक्त अंग्रेज आये, भारत की राष्ट्र-भावना लुप्त हो चुकी थी। यों कहिये कि उसमें राजनैतिक चेतना की गंध तक न रह गयी थी। अंग्रेजी राज ने आकर आपको एक राष्ट्र बना दिया। आज अंग्रेजी राज बिदा हो जाय — और एक-न-एक दिन तो यह होना ही है — तो फिर आपका यह राष्ट्र कहाँ जायगा? क्या यह बहुत संभव नहीं है कि एक-एक प्रान्त एक-एक राज्य हो जाय और फिर वही विच्छेद शुरू हो जाय? वर्तमान दशा में तो हमारी कौमी चेतना को सजग और सजीव रखने के लिए अंग्रेजी राज को अमर रहना चाहिए। अगर हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज्य के लिए उद्योग करना चाहते हैं तो हमें राष्ट्रभाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्र-भाषा के बख्तर से हम अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकेंगे। आप उसी राष्ट्र-भाषा के भिक्षु हैं, और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिये, आप कितना महान् काम करने जा रहे हैं। आप कानूनी बाल की खाल निकालनेवाले वकील नहीं बना रहे हैं, आप शासन-मिल के मजदूर नहीं बना रहे हैं, आप एक बिखरी

हुई कौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बन्धुत्व की सीमाओं को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयों को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नहीं है, जिसका आप स्वागत न कर सकें। यह धन का मार्ग नहीं है, संभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो; लेकिन आपके आत्मिक संतोष के लिए इससे बेहतर काम नहीं हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर्श हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्व आप खूब समझते हैं। वह हमारे रुकते हुए कदम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलों से संशय और सन्देह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयों में हमें साहस देता है।

राष्ट्र-भाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय में भी मैं आपसे दो शब्द कहूँगा। इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, या उर्दू कहिए, चीज एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। ईश्वर भी वही है, जो खुदा है, और राष्ट्र-भाषा में दोनों के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर हमारे देश में ऐसे लोगों की काफी तादाद निकल आये तो, जो ईश्वर को 'गाड' कहते हैं, तो राष्ट्र-भाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनायी जा सकती है। उसका अङ्ग-भङ्ग करके उसका कायापलट करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असम्भव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैकड़ों विदेशी शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास में बाधक होगी। वृक्षों को सीधा और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानों का ऐसा नियन्त्रण रख सकते हैं कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार में न आ सकें; पर यह नियन्त्रण केवल पुस्तकों पर ही

सकता है। बोलचाल पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना मुश्किल होगा। मगर विद्वानों का भी अजीब दिमाग है। प्रयाग में विद्वानों और पण्डितों की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में तिमाही, सेहमाही और त्रैमासिक शब्दों पर बरसों से मुबाहसा हो रहा है और अभी तक फैसला नहीं हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर हैं, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा जानेवाला शब्द है, उसका दोनों ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा सुन्दरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइये, कि वह अपने सतीत्व और स्वाथ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा, जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिए, कि हमारी भाषा अधिक से अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें, तो लिखते समय भी हम शब्द चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। यह गलत है, कि फारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनका अर्थ निकालना पण्डितों के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है। इससे कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया डाह है, यह मेरी समझ में नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हें उसका इस्तेमाल करने दीजिए। जिन्हें 'हिन्दी' नाम से प्रेम है, वह हिन्दी ही कहें। इसमें लड़ाई काहे की? एक चीज के दो नाम देकर ख्वामख्वाह आपस में लड़ना और उसे इतना महत्व दे देना कि वह राष्ट्र की एकता में बाधक हो जाय, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मैं अपने अनुभव से इतना कह सकता हूँ, कि उर्दू को राष्ट्र-भाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है, जो कौमियत के मतवाले हैं। कट्टर पन्थियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुसलिम संस्कृति का

कैम्प आज अलीगढ़ है। वहाँ उर्दू और फारसी के प्रोफ़ेसर और अन्य विषयों के प्रोफ़ेसरों से मेरी जो बातचीत हुई, उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेजार हैं, जितने पण्डिताऊ भाषा से, और कौमी-भाषा-संघ आन्दोलन में शरीक होने के लिए दिल से तैयार हैं। मैं यह भी माने लेता हूँ कि मुसलमानों का एक गिरोह हिन्दुओं से अलग रहने में ही अपना हित समझता है — हालाँकि उस गिरोह का जोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है — और वह अपनी भाषा को अरबी से गले तक ठूँस देना चाहता है, तो हम उससे क्यों झगड़ा करें ? क्या आप समझते हैं, ऐसी जटिल भाषा मुसलिम जनता में भी प्रिय हो सकती है ? कभी नहीं। मुसलमानों में वही लेखक सर्वोपरि हैं, जो आमफहम भाषा लिखते हैं। मौलवियाऊ भाषा लिखनेवालों के लिए यहाँ भी स्थान नहीं है। मुसलमान दोस्तों से भी मुझे कुछ अर्ज करने का हक है क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और अब भी मैं जितना उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता, और कायस्थ होने और बचपन से फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं है। मैं पूछता हूँ, आप इसे हिन्दी की गर्दनज़दनी समझते हैं ? क्या आपको मालूम है, और नहीं है तो होना चाहिए, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियों पहले पड़ चुका था) वह अमीर खुसरो था ? क्या आपको मालूम है, कम से कम पाँच सौ मुसलमान शायरों ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिनमें कई तो चोटी के शायर हैं ? क्या आपको मालूम है, अकबर, जहाँगीर और औरंगजेब तक हिन्दी की कविता का ज़ौक रखते थे और औरंगजेब ने ही आमों का नाम 'रसना-विलास' और 'सुधा-रस' रखा था ? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफीज जालन्धरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबाआजमाई करते हैं ? क्या आपको मालूम है हिन्दी में हजारों शब्द, हजारों क्रियाएँ अरबी और फारसी से आयी हैं और ससुराल में आकर घर की देवी हो गयी हैं ? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को

उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइन्साफी करते हैं। उर्दू शब्द कब और कहाँ उत्पन्न हुआ ; इसकी कोई तारीखी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते हैं वह 'बड़ा खराब आदमी है' और वह 'बड़ा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएँ हैं ? हिन्दुओं को 'खराब' भी अच्छा लगता है और 'आदमी' तो अपना भाई ही है। फिर मुसलमान को 'दुर्जन' क्यों बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यों शत्रु-सा दीखे ? हमारी कौमी भाषा में दुर्जन और सज्जन, उम्दा और खराब दोनों के लिये स्थान है, वहाँ तक जहाँ तक कि उसकी सुबोधता में बाधा नहीं पड़ती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त हैं, न हिन्दी के। मजा यह कि 'हिन्दी' मुसलमानों का दिया हुआ नाम है, और अभी पचास साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नजर नहीं आता, कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है ? इंगलैंडवाले इंगलिश बोलते हैं, फ्रांसवाले फ्रेंच, जर्मनीवाले जर्मन, फारसवाले फारसी, तुर्कीवाले तुर्की, अरबवाले अरबी, फिर हिन्दवाले क्यों न हिन्दी बोलें ? उर्दू तो न काफिये में आती है न रदीफ में, न बहर में न वजन में। हाँ, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाय, तो बेशक यहाँ की कौमी भाषा उर्दू होगी। कौमी भाषा के उपासक नामों से बहस नहीं करते, वह तो असलियत से बहस करते हैं। क्यों दोनों भाषाओं का कोष एक नहीं हो जाता ? हमें दोनों भाषाओं में एक आम लुगत (कोष) की जरूरत है, जिसमें आमफहम शब्द जमा कर दिये जायँ। हिन्दी में तो मेरे मित्र पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह जरूरत पूरी कर दी है। इस तरह का एक लुग़त उर्दू में भी होना चाहिए। शायद वह काम कौमी-भाषा-संघ बनने तक मुल्तवी रहेगा। मुझे अपने मुसलिम दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफहम शब्दों से भी परहेज करते हैं ; हालाँकि हिन्दी में आमफहम फारसी के शब्द आजादी से व्यवहार किये जाते हैं।

लेकिन प्रश्न उठता है कि राष्ट्र-भाषा कहाँ तक हमारी जरूरतें पूरी कर सकती है ? उपन्यास, कहानियाँ, यात्रा-वृत्तान्त, समाचार-पत्रों के लेख,

आलोचना अगर बहुत गूढ़ न हो, यह सब तो राष्ट्र-भाषा में अभ्यास कर लेने से लिखे जा सकते हैं ; लेकिन साहित्य में केवल इतने ही विषय तो नहीं हैं। दर्शन और विज्ञान की अनन्त शाखाएँ भी तो हैं जिनको आप राष्ट्र-भाषा में नहीं ला सकते। साधारण बातें तो साधारण और सरल शब्दों में लिखी जा सकती हैं। विवेचनात्मक विषयों में यहाँ तक कि उपन्यास में भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आपको मजबूर होकर संस्कृत या अरबी-फारसी शब्दों की शरण लेनी पड़ती है। अगर हमारी राष्ट्र-भाषा सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है, और उसमें आप हर एक विषय, हर एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमें यह बड़ा भारी दोष है, और यह हम सभी का कर्तव्य है कि हम राष्ट्र-भाषा को उसी तरह सर्वाङ्गपूर्ण बनावें, जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएँ हैं। यों तो अभी हिन्दी और उर्दू अपने सार्थक रूप में भी पूर्ण नहीं हैं। पूर्ण क्या, अधूरी भी नहीं हैं। जो राष्ट्र-भाषा लिखने का अनुभव रखते हैं, उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हें कितना सिर मगजन करना पड़ता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते हैं, तो भाषा में खपते नहीं, भाषा का रूप बिगाड़ देते हैं, खीर में नमक के डले की भाँति आकर मजा किरकिरा कर देते हैं। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता में भाषा का ज्ञान बहुत ही थोड़ा है और आमफहम शब्दों की संख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता में शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने के लायक भाषा में तात्विक विवेचनाएँ नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नहीं हुई, राष्ट्र-भाषा तो अभी शैशवावस्था में है, और फिलहाल यदि हम उसमें सरल साहित्य ही लिख सकें तो हमको संतुष्ट होना चाहिये। इसके साथ ही हमें राष्ट्र-भाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिये। वही संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायेंगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा-विस्तार की क्रिया, धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमें विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र-भाषा की जरूरत के

कायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बंगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जायँ और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज करने का काम उनको सौंपा जाय। अभी तक हमने अपने मनमाने ढंग से इस आन्दोलन को चलाया है। औरों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। आपका यात्री-मंडल भी हिन्दी के विद्वानों तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रों में जाकर मुसलिम विद्वानों की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं की? हमारे विद्वान् लोग तो अँगरेजी में मस्त हैं। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएँ सीखकर भी वे जनता की तरफ से आँखें बन्द किये बैठे हैं। उनकी दुनिया अलग है, उन्होंने उपजीवियों की मनोवृत्ति पैदा कर ली है। काश उनमें भी राष्ट्रीय चेतना होती, काश वे भी जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य को महसूस करते, तो शायद हमारा काम सरल हो जाता। जिस देश में जन शिक्षा की सतह इतनी नीची हो, उसमें अगर कुछ लोग अँगरेजी में अपनी विद्वता का सेहरा बाँध ही लें, तो क्या? हम तो तब जानें, जब विद्वत्ता के साथ-साथ दूसरों को भी ऊँची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत में केवल अँग्रेजीदाँ ही नहीं रहते। हजार में ९९९ आदमी अँग्रेजी का अक्षर भी नहीं जानते। जिस देश का दिमाग विदेशी भाषा में सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है? जब तक आपके पास राष्ट्र-भाषा नहीं, आपका कोई राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का सम्बन्ध है। राजनीति के माहिर अंग्रेज शासकों को आप राष्ट्र की हाँक लगाकर धोखा नहीं दे सकते। वे आपकी पोल जानते हैं और आपके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि राष्ट्र-भाषा का प्रचार कैसे बढ़े। अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओं ने इस तरफ मुजरिमाना गफलत दिखायी है। वे अभी तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मोटा विषय है, जो छोटे-मोटे आदमियों के करने का है, और उनके जैसे बड़े-बड़े आदमियों को इतनी कहाँ फुरसत कि वह झंझट में

पड़ें। उन्होंने अभी तक इस काम का महत्व नहीं समझा, नहीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पाँति में होता। मेरे विचार में जब तक राष्ट्र में इतना संगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमें यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज प्राप्त कर सके। गैरमुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और फतह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुजारिश करूँगा कि हजरत इस तरह के एक सौ एलेक्शन आयँगे और निकल जायँगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे, लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अँग्रेजी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें लेकिन आपकी आवाज में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जावें, जिसमें आपकी चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े। इस काम को तुच्छ न समझिये। यही बुनियाद है, आपका अच्छे से अच्छा गारा, मसाला, सीमेंट और बड़ी से बड़ी निर्माण-योग्यता जब तक यहाँ खर्च न होगी, आपकी इमारत न बनेगी। घरौंदा शायद बन जाय, जो एक हवा के झोंके में उड़ जायगा। दरअसल अभी हमने जो कुछ किया है, वह नहीं के बराबर है। एक अच्छा-सा राष्ट्र-भाषा का विद्यालय तो हम खोल नहीं सके। हर साल सैकड़ों स्कूल खुलते हैं, जिनकी मुल्क को बिलकुल जरूरत नहीं। 'उसमानिया विश्वविद्यालय' काम की चीज है, अगर वह उर्दू और हिन्दी के बीच की खाईं को और चौड़ी न बना दे। फिर भी मैं उसे और विश्वविद्यालयों पर तरजीह देता हूँ। कम से कम अँग्रेजी की गुलामी से तो उसने अपने को मुक्त कर लिया। और हमारे जितने विद्यालय हैं सभी गुलामी के कारखाने हैं जो लड़कों को स्वार्थ का, जरूरतों का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड़ देते हैं और लुत्फ यह है, कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है। इस शिक्षा की बाजारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यों भेड़ों की तरह उसके पीछे दौड़े चले जा रहे हैं? अँग्रेजी शिक्षा हम शिष्टता

के लिए नहीं ग्रहण करते। इसका उद्देश्य उदर है। शिष्टता के लिए हमें अँग्रेजी के सामने हाथ फैलाने की जरूरत नहीं। शिष्टता हमारी मीरास है, शिष्टता हमारी घुट्टी में पड़ी है। हम तो कहेंगे, हम जरूरत से ज्यादा शिष्ट हैं। हमारी शिष्टता दुर्बलता की हद तक पहुँच गयी है। पश्चिमी शिष्टता में जो कुछ है, वह उद्योग और पुरुषार्थ है। हमने यह चीजें तो उसमें से छाँटी नहीं। छाँटा क्या, लोफरपन, अहंकार, स्वार्थान्धता, बेशर्मी, शराब और दुर्व्यसन। एक मूर्ख किसान के पास जाइये। कितना नम्र, कितना मेहमाँनवाज़, कितना ईमानदार, कितना विश्वासी। उसी का भाई टामी है, पश्चिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शरावी, लोफर, गुण्डा, अक्खड़, हया से खाली। शिष्टता सीखने के लिए हमें अँग्रेजों की गुलामी करने की जरूरत नहीं। हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहिए जहाँ ऊँची से ऊंची शिक्षा राष्ट्र-भाषा में सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज्यादा नहीं तो एक ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान में होना ही चाहिए। मगर हम आज भी वही भेड़चाल चले जा रहे हैं, वही स्कूल, वही पढ़ाई। कोई भला आदमी ऐसा पैदा नहीं होता, जो एक राष्ट्र-भाषा का विद्यालय खोले। मेरे सामने दक्खिन से बीसों विद्यार्थी भाषा पढ़ने के लिए काशी गये; पर वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं। वही हाल अन्य स्थानों में भी है। बेचारे इधर-उधर ठोकरें खाकर लौट आये। अब कुछ विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ है, मगर जो काम हमें करना है, उसके देखते नहीं के बराबर है। प्रचार के और तरीकों में अच्छे ड्रामों का खेलना अच्छे नतीजे पैदा कर सकता है। इस विषय में हमारा सिनेमा प्रशंसनीय काम कर रहा है, हालाँकि उसके द्वारा जो कुरुचि, जो गन्दापन, जो विलास-प्रेम, जो कुवासना फैलायी जा रही है, वह इस काम के महत्व को मिट्टी में मिला देती है। अगर हम अच्छे भावपूर्ण ड्रामे स्टेज पर कर सकें, तो उससे अवश्य प्रचार बढ़ेगा। हमें सच्चे मिशनरियों की जरूरत है और आपके ऊपर इस मिशन का दायित्व है। बड़ी मुश्किल यह है कि जब तक किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न दे, कोई उसके पीछे क्यों अपना समय नष्ट करे? अगर हमारे नेता और विद्वान् जो राष्ट्र-भाषा के महत्व से बेखबर

नहीं हो सकते, राष्ट्र-भाषा का व्यवहार कर सकते तो जनता में उस भाषा की ओर विशेष आकर्षण होता। मगर, यहाँ तो अंग्रेजियत का नशा सवार है। प्रचार का एक और साधन है कि भारत के अँग्रेजी और अन्य भाषाओं के पत्रों को हम इस पर अमादा कर सकें कि वे अपने पत्रों के एक दो कालम नियमित रूप से राष्ट्र-भाषा के लिए दे सकें। अगर हमारी प्रार्थना वे स्वीकार करें, तो उससे भी बहुत फ़ायदा हो सकता है। हम तो उस दिन का स्वप्न देख रहे हैं, जब राष्ट्रभाषा पूर्ण रूप से अँग्रेजी का स्थान ले लेगा, जब हमारे विद्वान् राष्ट्रभाषा में अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्र-भाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भू-मण्डल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव स्थान मिलेगा, जब हम मँगनी के सुन्दर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही सही, संसार साहित्य मे प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अन्धकार में विलीन हो जायगा, इसका फैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे हृदय में वह बीज पड़ गया है, हमारी सम्पूर्ण प्राण-शक्ति से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जायगा।

हिन्दी और उर्दू-साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहें, तो समय नहीं। हमारा नया साहित्य अन्य प्रान्तीय साहित्यों की भाँति ही अभी सम्पन्न नहीं है। अगर सभी प्रांतों का साहित्य हिन्दी में आ सके, तो शायद वह सम्पन्न कहा जा सके। बँगला साहित्य से तो हमने उसके प्रायः सारे रत्न ले लिये हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलगु आदि भाषाओं से अभी हम कुछ नहीं ले सके, पर आशा करते हैं कि शीघ्र ही हम इस खजाने पर हाथ बढ़ायेंगे, बशर्ते कि घर के भेदियों ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमें शृंगार और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियों की रचनाएँ देखनी हैं, तो तुलसी, सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिये, ज्ञान में कबीर अपना सानी नहीं

रखता और श्रृंगार तो इतना अधिक है कि उसने एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियों का दोष नहीं, परिस्थितियों का दोष है जिनके अन्दर उन कवियों को रहना पड़ा। उस जमाने में कला दरबारों के आश्रय से जीती थी और कलाविदों को अपने स्वामियों की रुचि का ही लिहाज करना पड़ता था। उर्दू कवियों का भी यही हाल है। यही उस जमाने का रंग था। हमारे रईस लोग विलास में मग्न थे, और प्रेम, विरह और वियोग के सिवा उन्हें कुछ न सूझता था। अगर कहीं जीवन का नक्शा है भी, तो यह कि संसार चंद-रोजा है, अनित्य है, और यह दुनिया दुःख का भण्डार है और इसे जितनी जल्दी छोड़ दो, उतना ही अच्छा। इस थोथे वैराग्य के सिवा और कुछ नहीं। हाँ, सूक्तियों और सुभाषितों की दृष्टि से वह अमूल्य है। उर्दू की कविता आज भी उसी रंग पर चली जा रही है, यद्यपि विषय में थोड़ी-सी गहराई आ गयी है। हिन्दी में नवीन ने प्राचीन से बिलकुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भावों की गहराई, आत्मव्यंजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन कविता से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उस पर भी अपना रंग जमाया है और वह प्रायः निराशावाद का रुदन है। यद्यपि कवि उस रुदन से दुःखी नहीं होता, बल्कि उसने अपने धैर्य और संतोष का दायरा इतना फैला दिया है कि वह बड़े से बड़े दुःख और बाधा का स्वागत करता है। और चूंकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी के हृदयों में मौजूद हैं, उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की अतुल शक्ति है। यह जाहिर है कि अनुभूतियाँ सबके पास नहीं होतीं और जहाँ थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत से केवल कल्पना के आधार पर चलते हैं।

अगर आप दुःख का विकास चाहते हैं, तो महादेवी, 'प्रसाद', पंत, सुभद्रा, 'लली', 'द्विज' 'मिलिन्द', 'नवीन', पं० माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की रचनाएँ पढ़िये। मैंने केवल उन कवियों के नाम दिये हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दुःख के स्वर्ग में पहुँच जायँगे। काव्यों का

आनन्द लेना चाहें तो मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठीजी के काव्य पढ़िये। ग्राम्य-साहित्य का दफीना भी त्रिपाठीजी ने खोद कर आपके सामने रख दिया है। उसमें से जितने रत्न चाहे शौक से निकाल ले जाइये और देखिये उस देहाती गान में कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शौक है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रांतिकारी नाटक पढ़िये। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी की लगायी हुई पुष्पवाटिकाओं की सैर कीजिए। उर्दू में सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नजर से गुजरा, वह 'ताज' का रचा हुआ 'अनारकली' है। हास्यरस के पुजारी हैं, तो अन्नपूर्णानन्द की रचनाएँ पढ़िये। राष्ट्र-भाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते हैं, तो जी० पी० श्रीवास्तव के हँसानेवाले नाटकों की सैर कीजिये। उर्दू में हास्य-रस के कई ऊँचे दरजे के लेखक हैं और पंडित रतननाथ दर तो इस रङ्ग में कमाल कर गये हैं। उमर खैयाम का मजा हिन्दी में लेना चाहें तो 'बच्चन' कवि की मधुशाला में जा बैठिये। उसकी महक से ही आपको सरूर आ जायगा। गल्प-साहित्य में 'प्रसाद', 'कौशिक', जैनेन्द्र, 'भारतीय', 'अज्ञेय', विशेश्वर आदि की रचनाओं में आप वास्तविक जीवन की झलक देख सकते हैं। उर्दू के उपन्यासकारों में शरर, मिर्जा रुसवा, सज्जाद हुसेन, नजीर अहमद आदि प्रसिद्ध हैं, और उर्दू में राष्ट्र-भाषा के सबसे अच्छे लेखक ख्वाजा हसन निजामी हैं, जिनकी कलम में दिल को हिला देने की ताकत है। हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में अभी अच्छी चीजें कम आयी हैं, मगर लक्षण कह रहे हैं कि नयी पौध इस क्षेत्र में नये उत्साह, नये दृष्टि-कोण, नये सन्देश के साथ आ रही है। एक युग की इस तरक्की पर हमें लज्जित होने का कारण नहीं है।

मित्रो, मैं आपका बहुत-सा समय ले चुका; लेकिन एक झगड़े की बात बाकी है, जिसे उठाते हुए मुझे डर लग रहा है। इतनी देर तक उसे टालता रहा पर अब उसका भी कुछ समाधान करना लाजिम है। वह राष्ट्रलिपि का विषय है। बोलने की भाषा तो किसी तरह एक हो सकती है; लेकिन लिपि कैसे एक हो? हिन्दी और उर्दू लिपियों में तो पूरब-

पच्छिम का अन्तर है। मुसलमानों को अपनी फारसी लिपि उतनी ही प्यारी है, जितनी हिन्दुओं को अपनी नागरी लिपि। वह मुसलमान भी जो तमिल, बँगला या गुजराती लिखते-पढ़ते हैं, उर्दू को धार्मिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं; क्योंकि अरबी और फारसी लिपि में वही अन्तर है, जो नागरी और बँगला में है, बल्कि उससे भी कम। इस फारसी लिपि में उनका प्राचीन गौरव, उनकी संस्कृति, उनका ऐतिहासिक महत्व सब कुछ भरा हुआ है। उसमें कुछ कचाइयाँ हैं, तो खूबियाँ भी हैं, जिनके बल पर वह अपनी हस्ती कायम रख सकी है। वह एक प्रकार का शार्टहैंड है। हमें अपनी राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रलिपि का प्रचार मित्र-भाव से करना है, इसका पहला कदम यह है कि हम नागरी लिपि का संगठन करें। बंगला, गुजराती, तमिल आदि अगर नागरी लिपि स्वीकार कर लें, तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायगा और कुछ नहीं तो केवल संख्या ही नागरी को प्रधानता दिला देगी। और हिन्दी लिपि का सीखना इतना आसान है और इस लिपि के द्वारा उनकी रचनाओं और पत्र का प्रचार इतना ज्यादा हो सकता है कि मेरा अनुमान है, वे उसे आसानी से स्वीकार कर लेंगे। हम उर्दू लिपि को मिटाने तो नहीं जा रहे हैं। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारी एक कौमी लिपि हो जाय। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जायगा, तो सम्भव है मुसलमान भी उस लिपि को कुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हें बहुत दिन तक अलग न रहने देगी। क्या मुसलमानों में यह स्वाभाविक इच्छा नहीं होगी कि उनके पत्र और उनकी पुस्तकें सारे भारतवर्ष में पढ़ी जायँ? हम तो किसी लिपि को भी मिटाना नहीं चाहते। हम तो इतना ही चाहते हैं कि अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार नागरी में हो। मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के साथ यह प्रश्न आप हल हो जायगा। यू. पी. में यह आन्दोलन भी हो रहा है कि स्कूलों में उर्दू के छात्रों को हिन्दी और हिन्दी के छात्रों को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय कि वह मामूली पुस्तकें पढ़ सकें और खत लिख सकें। अगर वह आन्दोलन सफल हुआ, जिसकी आशा है, तो प्रत्येक बालक न्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों से परिचित हो जायगा। और जब

भाषा एक हो जायगी तो हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जायगी और राष्ट्रीय योजनाओं में उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता में राष्ट्र चेतना को इतना सजीव कर दें कि वह राष्ट्र हित के लिए छोटे-छोटे स्वार्थों को बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का बीड़ा उठाया है, और मैं जानता हूँ आपने क्षणिक आवेश में आकर यह साहस नहीं किया है बल्कि आपका इस मिशन में पूरा विश्वास है, और आप जानते हैं कि यह विश्वास कि हमारा पक्ष सत्य और न्याय का पक्ष है, आत्मा को कितना बलवान बना देता है। समाज में हमेशा ऐसे लोगों की कसरत होती है जो खाने-पीने, धन बटोरने और जिन्दगी के अन्य धन्धों में लगे रहते हैं। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य हैं, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैं — कभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्हीं लड़न्तियों के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियों में हैं। सिपाही लड़ता है, हारने-जीतने का उसे परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नजर आयेंगी। बहुत सम्भव है, आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल भो कह सकते हैं। कहने दीजिए। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एकाएक सेना नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आप में विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें, हर एक पन्थ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श-जीवन पर ही निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में ऊँचे-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।

●

दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ उपाधिवितरणोत्सव के अवसर पर, २९ दिसम्बर, १९३४ ई० को दिया गया दीक्षान्त भाषण।

क़ौमी भाषा के विषय में कुछ विचार

बहनो और भाइयो,

किसी क़ौम के जीवन और उसकी तरक्की में भाषा का कितना बड़ा हाथ है, इसे हम सब जानते हैं, और उसकी तशरीह करना आप-जैसे विद्वानों की तौहीन करना है। यह दो पैरोंवाला जीव उसी वक्त आदमी बना, जब उसने बोलना सीखा। यों तो सभी जीवधारियों की एक भाषा होती है। वह उसी भाषा में अपनी खुशी और रंज, अपना क्रोध और भय, अपनी हाँ या नहीं बतला दिया करता है। कितने ही जीव तो केवल इशारों में ही अपने दिल का हाल और स्वभाव जाहिर करते हैं। यह दर्जा आदमी ही को हासिल है कि वह अपने मन के भाव और विचार सफ़ाई और बारीकी से बयान करे। समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा के वगैर किसी समाज का खयाल भी नहीं किया जा सकता। किसी स्थान की जलवायु, उसके नदी और पहाड़, उसकी सर्दी और गर्मी और अन्य मौसमी हालतें सब मिल-जुलकर वहाँ के जीवों में एक विशेष आत्मा का विकास करती हैं, जो प्राणियों की शक्ल-सूरत, व्यवहार विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती हैं और अपने को व्यक्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती हैं। इस तरह हमारी भाषा का सीधा सम्बन्ध हमारी आत्मा से है। यों कह सकते हैं कि भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। वह हमारी शक्ल-सूरत, हमारे रंग-रूप ही की भाँति हमारी आत्मा से निकलती है। उसके एक-एक अक्षर में हमारी आत्मा का प्रकाश है। ज्यों-ज्यों हमारी आत्मा का विकास होता है, हमारी भाषा

भी प्रौढ़ और पुष्ट होती जाती है। आदि में जो लोग इशारों में बात करते थे, फिर अक्षरों में अपने भाव प्रकट करने लगे, वही लोग फिलासफी लिखते और शायरी करते हैं, और जब जमाना बदल जाता है और हम उस जगह से निकलकर दुनिया के दूसरे हिस्सों में आबाद हो जाते हैं, हमारा रङ्ग-रूप भी बदल जाता है। फिर भी भाषा सदियों तक हमारा साथ देती रहती है और जितने लोग हम जबान हैं, उनमें एक अपनापन, एक आत्मीयता, एक निकटता का भाव जगाती रहती है। मनुष्य में मेल-मिलाव के जितने साधन हैं, उनमें सबसे मजबूत, असर डालनेवाला रिश्ता भाषा का है। राजनीतिक, व्यापारिक या धार्मिक नाते जल्द या देर में कमजोर पड़ सकते हैं और अक्सर टूट जाते हैं; लेकिन भाषा का रिश्ता समय की और दूसरी बिखेरनेवाली शक्तियों की परवा नहीं करता, और एक तरह से अमर हो जाता है।

लेकिन आदि में मनुष्यों के जैसे छोटे-छोटे समूह होते हैं, वैसी ही छोटी-छोटी भाषाएँ भी होती हैं। अगर गौर से देखिये, तो बीस-पचीस कोस के अन्दर ही भाषाओं में कुछ-न-कुछ फर्क हो जाता है। कानपुर और झाँसी की सरहदें मिली हुई हैं। केवल एक नदी का अन्तर है; लेकिन नदी की उत्तर तरफ़ कानपुर में जो भाषा बोली जाती है, उसमें और नदी की दक्षिण तरफ की भाषा में साफ-साफ फर्क नजर आता है। सिर्फ प्रयाग में कम-से-कम दस तरह की भाषाएं बोलो जाती हैं। लेकिन जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, यह स्थानीय भाषाएँ किसी सूबे की भाषा में जा मिलती हैं और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अङ्ग बन जाती है। हिन्दी हो में ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी, अवधी, मैथिल, भोजपुरी आदि भिन्न-भिन्न शाखाएँ है; लेकिन जैसे छोटी-छोटी धाराओं के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमें मिलकर नदियाँ अपने को खो देती हैं, उसी तरह ये सभी प्रान्तीय भाषाएँ हिन्दी की मातहत हो गयी हैं और आज उत्तर भारत का एक देहाती भी हिन्दी समझता है और अवसर पड़ने पर बोलता है। लेकिन हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की जरूरत पड़ गयी है, जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और

बोली जाय, जिसे हम हिन्दी या गुजराती या मराठी या उर्दू न कहकर हिन्दुस्तानी भाषा कह सकें, जिसे हिन्दुस्ता का पढ़ा-बे-पढ़ा आदमी उसी तरह समझे या बोले, जैसे हर एक अंग्रेज या जर्मन या फ्रांसीसी फ्रेंच या जर्मन या अँग्रेजी भाषा बोलता और समझता है। हम सूबे की भाषाओं के विरोधी नहीं हैं। आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें, करें। लेकिन एक क़ौमी भाषा का मरकज़ी सहारा लिये बगैर आपके राष्ट्र की जड़ कभी मजबूत नहीं हो सकती। हमें रंज के साथ कहना पड़ता है कि अब तक हमने क़ौमी भाषा की ओर जितना ध्यान देना चाहिये, उतना नहीं दिया है। हमारे पूज्य नेता सब-के-सब ऐसी जबान की जरूरत को मानते हैं; लेकिन अभी तक उनका ध्यान खास तौर पर इस विषय की ओर नहीं आया। हम ऐसा राष्ट्र बनाने का स्वप्न देख रहे हैं, जिसकी बुनियाद इस वक्त सिर्फ अँग्रेजी हुकूमत है। इस बालू की बुनियाद पर हमारी क़ौमियत का मीनार खड़ा किया जा रहा है। और अगर हमने क़ौमियत की सबसे बड़ी शर्तें, यानी क़ौमी जबान की तरफ से लापरवाही की, तो इसका अर्थ यह होगा कि आपकी क़ौम को जिन्दा रखने के लिए अँग्रेजी की मरकज़ी हुकूमत का कायम रहना लाजिम होगा वरना कोई मिलानेवाली ताक़त न होने के कारण हम सब बिखर जायँगे और प्रान्तीयता जोर पकड़कर राष्ट्र का गला घोंट देगी, और जिस बिखरी हुई दशा में हम अँग्रेजों के आने के पहले थे, उसी में फिर लौट जायँगे।

इस लापरवाही का खास सबब है — अँग्रेजी जबान का बढ़ता हुआ प्रचार और हममें आत्म-सम्मान की वह कमी, जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती। यह दुरुस्त है कि आज भारत की दफ्तरी जबान अँग्रेजी है और भारत की जनता पर शासन करने में अँग्रेजों का हाथ बँटाने के लिए हमारा अँग्रेजी जानना जरूरी है। इल्म और हुनर और खयालात में जो इनकलाब होते रहते हैं, उनसे वाकिफ़ होने के लिए भी अँग्रेजी जबान सीखना लाजिमी हो गया है। जाती शोहरत और तरक्की की सारी कुंजियाँ अँगरेजी के हाथ में हैं और कोई भी उस खजाने को नाचीज नहीं समझ सकता। दुनिया की तहजीबी या सांस्कृतिक बिरादरी में मिलने के

लिए अंगरेजी ही हमारे लिए एक दरवाजा है और उसकी तरफ से हम आँख नहीं बन्द कर सकते। लेकिन हम दौलत और अख्तियार की दौड़ में, और बेतहाशा दौड़ में क़ौमी भाषा की जरूरत बिलकुल भूल गये और उस जरूरत की याद कौन दिलाता? आपस में तो अँगरेजी का व्यवहार था ही, जनता से ज्यादा सरोकार था ही नहीं, और अपनी प्रान्तीय भाषा से सारी जरूरतें पूरी हो जाती थीं। क़ौमी भाषा का स्थान अँगरेजी ने ले लिया और उसी स्थान पर विराजमान है। अँगरेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज्यादा अँगरेजी भाषा का है। अँग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं; लेकिन अँग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक़ की तरह गर्दन में डाले हुए हैं। अँग्रेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं। लेकिन अँग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलों पर बैठ गया है। उसके बगैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज अनाथ हो जायगा। पुराने समय में आर्य्य और अनार्य्य का भेद था, आज अँग्रेजीदाँ और गैर-अँग्रेजीदाँ का भेद है। अँग्रेजीदाँ आर्य्य है। उसके हाथ में, अपने स्वामियों की कृपा-दृष्टि की बदौलत, कुछ अख्तियार है, रोब है, सम्मान है। गैर-अँग्रेजीदाँ अनार्य्य हैं और उसका काम केवल आर्य्यों की सेवा-टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है। यह आर्य्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है, दिन-दूना रात चौगुना। अगर सौ-दो-सौ साल में भी वह सारे भारत में फैल जाता, तो हम कहते बला से, विदेशी जबान है, हमारा काम तो चलता है; लेकिन इधर तो हजार-दो-हजार साल में भी उसके जनता में फैलने का इमकान नहीं। दूसरे वह पढ़े-लिखे को जनता से अलग किये चली जा रही है। यहाँ तक कि इनमें एक दीवार खिंच गयी है। साम्राज्यवादी जाति की भाषा में कुछ तो उसके घमण्ड और दबदबे का असर होना ही चाहिए। हम अँग्रेजी पढ़कर अगर अपने को महकूम जाति का अंग भूलकर हाकिम जाति का अंग समझने लगते हैं, कुछ वही गरूर, कुछ वही अहम्मन्यता, 'हम चुनीं दगरे नेस्त' वाला भाव, बहुतों में कस-

दन, और थोड़े आदमियों में बेजाने पैदा हो जाते हैं, तो कोई ताज्जुब नहीं। हिन्दुस्तानी साहबों की अपनी बिरादरी हो गयी है, उनका रहन-सहन, चाल-ढाल, पहनावा, बर्ताव सब साधारण जनता से अलग है, साफ मालूम होता है कि यह कोई नयी उपज है। जो हमारा अँग्रेजी साहब करता है, वही हमारा हिन्दुस्तानी साहब करता है, करने पर मजबूर है। अँग्रेजियत ने उसे हिप्नोटाइज कर दिया है, उसमें बेहद उदारता आ गयी है, छूत-छात से सोलहो आना नफरत हो गयी है, वह अँग्रेजी साहब की मेज का जूठन भी खा लेगा और उसे गुरु का प्रसाद समझ लेगा ; लेकिन जनता उसकी उदारता में स्थान नहीं पा सकती, उसे तो वह काला आदमी समझता है। हाँ, जब कभी अँग्रेजी साहबों से उसे ठोकर मिलती है, तो वह दौड़ा हुआ जनता के पास फरियाद करने जाता है, उसी जनता के पास, जिसे वह काला आदमी और अपना भोग्य समझता है। अगर अँग्रेजी स्वामी उसे नौकरियाँ देता जाय, उसे, उसके लड़कों, पोतों, सबको, तो उसे अपने हिन्दुस्तानी या गुलाम होने का कभी ख्याल भी न आयगा। मुश्किल तो यही है कि वहाँ भी गुँजायश नहीं है। ठोकरों-पर-ठोकरें मिलती हैं, तब यह क्लास देश-भक्त बन जाता है और जनता का वकील और नेता बनकर उसका जोर लेकर अँग्रेज साहब का मुकाबिला करना चाहता है। तब उसे ऐसी भाषा की कमी महसूस होती है, जिसके द्वारा वह जनता तक पहुँच सके। काँग्रेस को थोड़ा-बहुत यश मिला, वह जनता को उसी भाषा में अपील करने से मिला। हिन्दुस्तान में इस वक्त करीब चौबीस-पचीस करोड़ आदमी हिन्दुस्तानी भाषा समझ सकते हैं। यह क्या दुःख की बात नहीं कि वे जो भारतीय जनता की वकालत के दावेदार हैं, वह भाषा न बोल सकें और न समझ सकें, जो पचीस करोड़ की भाषा है, और जो थोड़ी-सी कोशिश से सारे भारतवर्ष का भाषा बन सकती है ? लेकिन अँग्रेजी के चुने हुए शब्दों और मुहावरों और मँजी हुई भाषा में अपनी निपुणता और कुशलता दिखाने का रोग इतना बढ़ा हुआ है कि हमारी क़ौमी सभाओं में सारी कार्रवाई अँग्रेजी में होती है, अँग्रेजी में भाषण दिये जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं, सारी लिखा-पढ़ी अँग्रेजी

में होती है, उस संस्था में भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है। यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिष्ट भी, जो जनता के खासुलखास झंडे-बरदार हैं, सभी कार्रवाही अँग्रेजी में करते हैं। जब हमारी क़ौमी संस्थाओं की यह हालत है, तो हम सरकारी महकमों और यूनिवर्सिटियों से क्या शिकायत करें? मगर सौ वर्ष तक अंग्रेजी पढने-लिखने और बोलने के बाद भी एक हिन्दुस्तानी भी ऐसा नहीं निकला, जिसकी रचना का अँग्रेजी में आदर हो। हम अँग्रेजी भाषा को खैरात खाने के इतने आदी हो गये हैं कि अब हमें हाथ-पाँव हिलाते कष्ट होता है। हमारी मनोवृत्ति कुछ वैसी ही हो गयी है, जैसी अक्सर भिखमंगों की होती है जो इतने आरामतलब हो जाते हैं कि मजदूरी मिलने पर भी नहीं करते। यह ठीक है कि कुदरत अपना काम कर रही है और जनता क़ौमी भाषा बनाने में लगी हुई है। उसका अँग्रेजी न जानना, क़ौम की भाषा के लिए अनुकूल जलवायु दे रहा है। इधर सिनेमा के प्रचार में भी इस समस्या को हल करना शुरू कर दिया है और ज्यादातर फिल्में हिन्दुस्तानी भाषा में ही निकल रही हैं। सभी ऐसी भाषा में बोलना चाहते हैं, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें; लेकिन जब जनता अपने रहनुमाओं को अँग्रेजी में बोलते और लिखते देखती है, तो क़ौमी भाषा से उसे जो हमदर्दी है, उसमें जोर का धक्का लगता है, उसे कुछ ऐसा खयाल होने लगता है कि क़ौमी भाषा कोई ज़रूरी चोज नहीं हैं। जब उसके नेता, जिनके कदमों के निशान पर वह चलती है, और जो जनता की रुचि बनाते हैं, क़ौमी भाषा को हकीर समझें — सिवाय इसके कि कभी-कभी श्रीमुख से तारीफ कर दिया करें — तो जनता से यह उम्मीद करना कि वह क़ौमी भाषा के मुर्दे को पूजती जायगी, उसे बेवकूफ समझना है। और जनता को आप जो चाहें इल्ज़ाम दे लें, वह बेवकूफ़ नहीं है। अपने समझदारी का जो तराजू अपने दिल में बना रखा है उस पर वह चाहे पूरी न उतरे; लेकिन हम दावे से कह सकते हैं कि कितनी ही बातों में वह आपसे और हमसे कहीं ज्यादा समझदार है। क़ौमी भाषा के प्रचार का एक बड़ा जरिया हमारे अखबार हैं; लेकिन अखबारों की सारी शक्ति नेताओं के भाषणों, व्याख्यानों और बयानों के अनुवाद करने

में ही खर्च हो जाती है, और चूँकि शिक्षित समाज ऐसे अखबार खरीदने और पढ़ने में अपनी हतक समझता है, इसलिए ऐसे पत्रों का प्रचार बढ़ने नहीं पाता और आमदनी कम होने के सबब वे पत्र को मनोरंजक नहीं बना सकते। वाइसराय या गवर्नर अँग्रेजी में बोलें, हमें कोई एतराज नहीं। लेकिन अपने ही भाइयों के खयालात तक पहुँचने के लिए हमें अँग्रेजी से अनुवाद करना पड़े, यह हालत भारत जैसे गुलाम देश के सिवा और कहीं नजर नहीं आ सकती। और जबान की गुलामी ही असली गुलामी है। ऐसे भी देश संसार में हैं, जिन्होंने हुक्मराँ जाति को भाषा को अपना लिया। लेकिन उन जातियों के पास न अपनी तहजीब या सभ्यता थी, और न अपना कोई इतिहास था, न अपनी कोई भाषा थी। वे उन बच्चों की तरह थे, जो थोड़े ही दिनों में अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं और नयी भाषा में बोलने लगते हैं। क्या हमारा शिक्षित भारत वैसा ही बालक है? ऐसा मानने की इच्छा नहीं होती; हालाँकि लक्षण सब वही हैं।

सवाल यह होता है कि जिस क़ौमी भाषा पर इतना जोर दिया जा रहा है, उसका रूप क्या है? हमें खेद है कि अभी तक हम उसकी कोई खास सूरत नहीं बना सके हैं, इसलिए कि जो लोग उसका रूप बना सकते थे, वे अंग्रेजी के पुजारी थे और हैं; मगर उसकी कसौटी यही है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें। हमारी कोई सूबेवाली भाषा इस कसौटी पर पूरी नहीं उतरती। सिर्फ हिन्दुस्तानी करती है; क्योंकि मेरे ख्याल में हिन्दी और उर्दू दोनों एक जबान हैं। क्रिया और कर्त्ता, फेल और फाइल, जब एक हैं, तो उनके एक होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। उर्दू वह हिन्दुस्तानी जबान है, जिसमें फारसी-अरबी के लफ्ज ज्यादा हों, उसी तरह हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है, जिसमें संस्कृत के शब्द ज्यादा हों। लेकिन जिस तरह अंग्रेजी में चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हों या एंग्लोसेक्सन, दोनों ही अंग्रेजी हैं, उसी भाँति हिन्दुस्तानी भी अन्य भाषाओं के शब्दों में मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो जाती। साधारण बातचीत में तो हम हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते ही हैं। थोड़ी-सी कोशिश से हम इसका

व्यवहार उन सभी कामों में कर सकते हैं, जिनसे जनता का सम्बन्ध है। मैं यहाँ एक उर्दू पत्र से [दो-एक उदाहरण देकर अपना मतलब साफ कर देना चाहता हूँ —

'एक जमाना था, जब देहातों में चरखा और चक्की के बगैर कोई घर खाली न था। चक्की-चूल्हे से छुट्टी मिली, तो चरखे पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं, इससे उनकी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मजबूत और जफाकश होते थे। मगर अब तो अँग्रेजी तहजीब और मुआशरत ने सिर्फ शहरों में ही नहीं देहातों में भी कायापलट दी है। हाथ की चक्की के बजाय अब मशीन का पिसा हुआ आटा इस्तेमाल किया जाता है। गाँवों में चक्की न रही, तो चक्की का पर गीत कौन गाये ? जो बहुत गरीब हैं, वे अब भी घर की चक्की का आटा इस्तेमाल करते हैं। चक्की पीसने का वक्त अमूमन रात का तीसरा पहर होता है। सरे शाम ही से पीसने के लिए अनाज रख लिया जाता है और पिछले पहर से उठकर औरतें चक्की पीसने बैठ जाती हैं।'

इस पैराग्राफ को मैं हिन्दुस्तानी का बहुत अच्छा नमूना समझता हूँ, जिसे समझने में किसी भी हिन्दी समझनेवाले आदमी को जरा भी मुश्किल न पड़ेगी। अब मैं उर्दू का तीसरा पैरा देता हूँ —

'उसकी वफ़ा का जज़बा सिर्फ़ जिन्दा हस्तियों के लिए महदूद न था। वह ऐसी परवाना थी, कि न सिर्फ़ जलती हुई शमा पर निसार होती थी, बल्कि बुझी हुई शमा पर भी खुद को क़ुरबान कर देती थी। अगर मौत का ज़ालिम हाथ उसके रफ़ीक़ हयात को छीन लेता था तो वह बाक़ी ज़िन्दगी उसके नाम और उसकी याद में बसर कर देती थी। एक की कहलाने और एक की हो जाने के बाद फिर दूसरे किसी शख्स का खयाल भी उसके वफ़ापरस्त दिल में भूलकर भी न उठता था।'

अगर पहले जुमले को हम इस तरह लिखें — 'वह सिर्फ जिन्दा आदमियों के साथ वफा न करती थी, और 'वफापरस्त' की जगह 'प्रेमी' 'रफीक हयात' की जगह 'जीवन साथी' का व्यवहार करें, तो वह साफ हिन्दुस्तानी बन जायगी और फिर उसके समझने में किसी को दिक्कत न

होगी। अब मैं एक हिन्दी-पत्र से एक पैरा नकल करता हूँ —

'मशीनों के प्रयोग से आदमियों का बेकार होना और नये-नये आविष्कारों से बेकारी बढ़ना, फिर बाजार की कमी, रही-सही कमी को और भी पूरा कर देती है। बेकारी की समस्या को अधिक भयंकर रूप देने के लिए यही काफी था; लेकिन इसके ऊपर संसार में हर दसवें साल की जन-गणना देखने से मालूम हो रहा है कि जनसंख्या बढ़ती ही जा रही है। पूंजीवाद कुछ लोगों को धनी बनाकर उसके लिए सुख और विलास की नयी-नयी सामग्री जुटा सकता है।'

यह हिन्दी के एक महशूर और माने हुए विद्वान् की शैली का नमूना है, इसमें 'प्रयोग', 'आविष्कार', 'समस्या' यह तीन शब्द ऐसे हैं, जो उर्दूदाँ लोगों को अपरिचित लगेंगे। बाकी सभी भाषाओं के बोलनेवाले की समझ में आ सकते हैं। इससे साबित हो रहा है कि हिन्दी या उर्दू में कितने थोड़े रद्दोबदल से उसे हम क़ौमी भाषा बना सकते हैं। हमें सिर्फ अपने शब्दों का कोष बढ़ाना पड़ेगा और वह भी ज्यादा नहीं। एक दूसरे लेख की शैली का नमूना और लीजिए —

'अपने साथ रहनेवाले नागरिकों के साथ हमारा जो रोज-रोज का सम्बन्ध होता है, उसमें क्या आप समझते हैं कि वस्तुतः न्यायकर्त्ता, जेल के अधिकारी और पुलिस के कारण ही समाज-विरोधी कार्य्य बढ़ने नहीं पाते? न्यायकर्त्ता तो सदा खूंख्वार बना रहता है, क्योंकि वह कानून का पागल है। अभियोग लगानेवाला, पुलिस को खबर देनेवाला, पुलिस का गुप्तचर, तथा इसी श्रेणी के और लोग जो अदालतों के इर्द-गिर्द मँड़राया करते हैं और किसी प्रकार अपना पेट पालते हैं, क्या यह लोग व्यापक रूप से समाज में दुर्नीति का प्रचार नहीं करते? मामलों-मुकदमों की रिपोर्ट पढ़िये, पर्दे के अन्दर नजर डालिये, अपनी विश्लेषक बुद्धि को अदालतों के बाहरी भाग तक ही परिमित न रखकर भीतर ले जाइये, तब आपको जो कुछ मालूम होगा, उससे आपका सिर बिलकुल भन्ना उठेगा।'

यहाँ अगर हम 'समाज विरोधी' की जगह 'समाज को नुकसान पहुँ-

चानेवाले, 'अभियोग' की जगह 'जुर्म', 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर' 'श्रेणी' की जगह 'दर्जा', 'दुर्नीत' की जगह 'बुराई', 'विश्लेषक बुद्धि' की जगह 'परख', 'परिमित' की जगह 'बन्द' लिखें, तो वह सरल और सुबोध हो जाती है और हम उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

इन उदाहरणों या मिसालों से जाहिर है कि हिन्दी-क़ोष में उर्दू के और उर्दू-कोष में हिन्दी के शब्द बढ़ाने से काम चल सकता है। यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि थोड़े दिन पहले फारसी और उर्दू के दरबारी भाषा होने के सबब से फारसी के शब्द जितना रिवाज पा गये हैं उतना संस्कृत के शब्द नहीं। संस्कृत शब्दों के उच्चारण में जो कठिनाई होती है, उसको हिन्दी के विद्वानों ने पहले ही देख लिया और उन्होंने हजारों संस्कृत शब्दों को इस तरह बदल दिया कि वह आसानी से बोले जा सकें। ब्रजभाषा और अवधी में इसको बहुत-सी मिसालें मिलती हैं, जिन्हें यहाँ लाकर मैं आपका समय नहीं खराब करना चाहता। इसलिए क़ौमी भाषा में उसका वही रूप रखना पड़ेगा, और संस्कृत शब्दों की जगह, जिन्हें सर्व-साधारण नहीं समझते, ऐसे फारसी शब्द रखने पड़ेंगे, जो विदेशी होकर भी इतने आम हो गये हैं कि उनको समझने में जनता को कोई दिक्कत नहीं होती। 'अभियोग' का अर्थ वही समझ सकता है, जिसने संस्कृत पढ़ी हो। जुर्म का मतलब बे-पढ़े भी समझते हैं। 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई' ज्यादा सरल शब्द हैं। शुद्ध हिन्दी के भक्तों को मेरे इस बयान से मतभेद हो सकता है। लेकिन अगर हम ऐसी क़ौमी जबान चाहते हैं, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें, तो हमारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है, और यह कौन नहीं चाहता कि उसको बात ज्यादा-से-ज्यादा लोग समझें, ज्यादा-से-ज्यादा आदमियों के साथ उसका आत्मिक सम्बन्ध हो। हिन्दी में एक फरीक ऐसा है, जो यह कहता है कि चूंकि हिन्दुस्तान की सभी सूबेवाली भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और उनमें संस्कृत के शब्द अधिक हैं इसलिए हिन्दी में हमें अधिक-से-अधिक संस्कृत के शब्द लाने चाहिये; ताकि अन्य प्रान्तों के लोग उसे आसानी से समझें। उर्दू की मिलावट करने से हिन्दी का

कोई फायदा नहीं। उन मित्रों को मैं यही जवाब देना चाहता हूँ कि ऐसा करने से दूसरे सूबों के लोग चाहे आपको भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिन्दी बोलनेवाले न समझेंगे। क्योंकि, साधारण हिन्दी बोलनेवाला आदमी शुद्ध संस्कृत शब्दों का जितना व्यवहार करता है, उससे कहीं ज्यादा फारसी शब्दों का। हम इस सत्य की ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते और फिर इसकी जरूरत ही क्या है, कि हम भाषा को पवित्रता की धुन में तोड़-मरोड़ डालें। यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में कुछ-न-कुछ अन्तर होता है; लेकिन लिखित भाषा सदैव बोल-चाल की भाषा से मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती है। लिखित भाषा की खूबी यही है कि वह बोलचाल की भाषा से मिले। इस आदर्श से वह जितनी ही दूर जाती है, उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है। बोलचाल की भाषा भी अक्सर और परिस्थिति अनुसार बदलती रहती है। विद्वानों के समाज में जो भाषा बोली जाती है, वह बाजार को भाषा से अलग होती है। शिष्ट भाषा की कुछ-न-कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए; लेकिन इतनी नहीं कि उससे भाषा के प्रचार में बाधा पड़े। फारसी शब्दों में शीन-काफ की बड़ी कैद है; लेकिन क़ौमी भाषा में यह कैद ढीली करनी पड़ेगी। पञ्जाब के बड़े-बड़े विद्वान भी 'क़' की जगह 'क' ही का व्यवहार करते हैं। मेरे खयाल में तो भाषा के लिए सबसे महत्व की चीज है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी चाहे वे किसी प्रान्त के रहनेवाले हों, समझें, बोलें, और लिखें। ऐसी भाषा न पंडिताऊ होगी और न मैलवियों की। उसका स्थान इन दोनों के बीच में है। यह जाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा में इबारस्त की चुस्ती और शब्दों के विन्यास की बहुत थोड़ी गुञ्जायश है। और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लालच बड़ा जोरदार होता है। लेखक केवल अपने मन का भाव नहीं प्रकट करना चाहता; बल्कि उसे बना-सँवारकर रखना चाहता है। बल्कि यों कहना चाहिये कि वह लिखता है रसिकों के लिए, साधारण जनता के लिए नहीं। उसी तरह, जैसे कलावंत राग-रागनियाँ गाते समय केवल संगीत के आचार्यों

ही से दाद चाहता है, सुननेवालों में कितने अनाड़ी बैठे हैं, इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं होतो। अगर हमें राष्ट्र-भाषा का प्रचार करना है, तो हमें इस लालच को दबाना पड़ेगा। हमें इबारत की चुस्ती पर नहीं, अपनी भाषा को सलीस बनाने पर खास तौर से ध्यान रखना होगा। इस वक्त ऐसी भाषा कानों और आँखों को खटकेगी जरूर, कहीं गंगा-मदार का जोड़ नजर आयेगा, कहीं एक उर्दू शब्द हिन्दी के बीच में इस तरह डटा हुआ मालूम होगा, जैसे कौओं के बीच में हंस आ गया हो। कहीं उर्दू के बोच में हिन्दी शब्द हलुए में नमक के डले की तरह मजा बिगाड़ देंगे। पंडितजी भी खिलखिलायेंगे और मौलवी साहब भो नाक सिकोड़ेंगे और चारों तरफ से शोर मचेगा कि हमारो भाषा का गला रेता जा रहा है, कुन्द छुरी से उसे ज़िबह किया जा रहा है। उर्दू को मिटाने के लिए यह साजिश को गयी है, हिन्दी को डुबाने के लिए यह माया रची गयी है! लेकिन हमें इन बातों को कलेजा मजबूत करके सहना पड़ेगा। राष्ट्र-भाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे क़िसानों और मजदूरों की भी बनना पड़ेगा। जैसे रईसों और अमीरों ही से राष्ट्र नहीं बनता, उसी तरह उनकी गोद में पली हुई भाषा राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। यह मानते हुए कि सभाओं में बैठकर हम राष्ट्र-भाषा की तामीर नहीं कर सकते, राष्ट्र-भाषा तो बाजारों में और गलियों में बनती है; लेकिन सभाओं में बैठकर हम उसकी चाल को तेज जरूर कर सकते हैं। इधर तो हम राष्ट्र-राष्ट्र का गुल मचाते हैं, उधर अपनी-अपनी जबानों के दरवाजों पर संगीनें लिए खड़े रहते हैं कि कोई उसकी तरफ आँख न उठा सके। हिन्दी में हम उर्दू शब्दों को बिला तकल्लुफ स्थान देते हैं, लेकिन उर्दू के लेखक संस्कृत के मामूली शब्दों को भी अन्दर नहीं आने देते। वह चुन-चुनकर हिन्दी की जगह फारसी और अरबी के शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। जरा-जरा से मुज़क्कर और मुअन्नस के भेद पर तूफान मच जाया करता है। उर्दू जबान सिरात का पुल बनकर रह गयी हैं, जिससे जरा इधर-उधर हुए और जहन्नुम में पहुँचे। जहाँ राष्ट्र-भाषा के प्रचार करने का प्रयत्न हो रहा है, वहाँ सब से बड़ी दिक्क़त इसी

लिङ्ग-भेद के कारण पैदा हो रही है। हमें उर्दू के मौलवियों और हिन्दी के पण्डितों से उम्मीद नहीं कि वे इन फन्दों में कुछ को नर्म करेंगे। यह काम हिन्दुस्तानी भाषा का होगा कि वह जहाँ तक हो सके, निरर्थक कैदों से आजाद हो। आँख क्यों स्त्री लिङ्ग है और कान क्यों पुल्लिङ्ग है, इसका कोई सन्तोष के लायक जवाब नहीं दिया जा सकता।

मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि जो संस्था जनता की भाषा का बायकाट करती है, उस पर दूर ही से लाठी लेकर उठती है, वह राष्ट्रीय संस्था किस लिहाज से है और जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे बन सकते हैं, फिर चाहे वे समाज़वाद या समष्टिवाद या किसी और वाद का लेबल लगाकर आयें। संभव है, इस वक्त आपको राष्ट्र-भाषा की जरूरत न मालूम होती हो और अंग्रेजी से आपका काम मजे से चल सकता हो, लेकिन अगर आगे चलकर हमें फिर हिन्दुस्तान को घरेलू लड़ाइयों से बचाना है, तो हमें उन सारे नातों को मजबूत बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र के अंग हैं और जिनमें क़ौमी भाषा का स्थान सबसे ऊँचा नहीं, तो किसी से कम भी नहीं है। जब तक आप अंग्रेजी को अपनी क़ौमी भाषा बनाये हुए हैं, तब तक आपकी आजादी की धुन पर किसी को विश्वास नहीं आता। वह भीतर की आत्मा से निकली हुई तहरीक नहीं है, केवल आज़ादी के शहीद बन जाने की हविस है। यहाँ जय जय के नारे और फूलों की वर्षा नहीं। लेकिन जो लोग हिन्दुस्तान को एक क़ौम देखना चाहते हैं—इसलिए नहीं कि वह क़ौम कमजोर क़ौमों को दबाकर, भाँति-भाँति के मायाजाल फैलाकर, रोशनी और ज्ञान फैलाने का ढोंग रचकर, अपने अमीरों का व्यापार बढ़ाये और अपनी ताक़त पर घमण्ड करे, बल्कि इसीलिए कि वह आपस में हमदर्दी, एकता और सद्भाव पैदा करे और हमें इस योग्य बनाये कि हम अपने भाग्य का फैसला अपनी इच्छानुसार कर सकें—उनका यह फ़र्ज़ है कि क़ौमी भाषा के विकास और प्रचार में वे हर तरह मदद करें। और यहाँ सब हमारे हाथ में है। विद्यालयों में हम क़ौमी भाषा के दर्जे खोल सकते हैं। हर एक ग्रेजुएट के लिए क़ौमी भाषा में बोलना और लिखना लाज़िमी

बना सकते हैं। हम हरेक पत्र में, चाहे वह मराठी हो या गुज़राती या अँगरेजो या बँगला, एक दो कालम क़ौमी भाषा के लिए अलग कर सकते हैं। अपने प्लेटफार्म पर क़ौमी भाषा का व्यवहार कर सकते हैं। आपस में क़ौमी भाषा में बातचोत कर सकते हैं। जब तक मुल्की दिमाग अँग्रेजों की गुलामी में खुश होता रहेगा, उस वक्त तक भारत सच्चे मानी में राष्ट्र न बन सकेगा। यह भो जाहिर है कि प्रान्त या एक भाषा के बोलनेवाले क़ौमी भाषा नहीं बना सकते। क़ौमी भाषा तो तभी बनेगी, जब सभी प्रान्तों के दिमागदार लोग उसमें सहयोग देंगे। सम्भव है कि दस-पाँच साल भाषा का कोई रूप स्थिर न हो, कोई पूरब जाय कोई पश्चिम; लेकिन कुछ दिनों के बाद तूफान शान्त हो जायगा और जहाँ केवल धूल और अन्धकार और गुबार था, वहाँ हरा-भरा साफ़ सुथरा मैदान निकल आयेगा। जिनके कलम में मुर्दों को जिलाने और सोतों को जगाने की ताकत है, वे सब वहाँ विचरते हुए नज़र आयेंगे। तब हमें टैगोर, मुंशी, देशाई और जोशी की कृतियों से आनन्द और लाभ उठाने के लिए मराठी और बंगला या गुजराती न सीखनी पड़ेगी। क़ौमी भाषा के साथ क़ौमी साहित्य का उदय होगा और हिन्दुस्तानी भो दूसरी सम्पन्न और सरसब्ज भाषाओं की मंज-लिस में बैठेगी। हमारा साहित्य प्रान्तीय न होकर क़ौमी हो जायगा। इस अँग्रेजी प्रभुत्व की यह बरकत है कि आज एडगर वैलेस, गाई बूथबी जैसे लेखकों से हम जितने मनहूस हैं, उसका शतांश भी अपने शरत और मुन्शी और 'प्रसाद' की रचनाओं से नहीं। डाक्टर टैगोर भी अँग्रेजी में न लिखते, तो शायद बंगाली दायरे के बाहर बहुत कम आदमी उनसे वाकिफ होते। मगर कितने खेद की बात है कि महात्मा गाँधी के सिवा किसी भी दिमाग ने क़ौमी भाषा की जरूरत नहीं समझी और उस पर जोर नहीं दिया। यह काम क़ौमी सभाओं का है कि वह क़ौमी भाषा के प्रचार के लिए इनाम और तमगे दें, उसके लिए विद्यालय खोलें, पत्र निकालें और जनता में प्रोपेगैंडा करें। राष्ट्र के रूप में संघटित हुए बगैर हमारा दुनिया में जिन्दा रहना मुश्किल है। यकीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुँचने की शाही सड़क कौन-सी है। मगर

दूसरी कौमों के साथ क़ौमी भाषा को देखकर सिद्ध होता है कि कौमियत के लिए लाजिमी चीजों में भाषा भी है और जिसे एक राष्ट्र बनना है, उसे एक क़ौमी भाषा भी बनानी पड़ेगी। इस हकीकत को मानते हैं, लेकिन सिर्फ ख्याल में। उस पर अमल करने का हममें साहस नहीं है। यह काम इतना बड़ा और मार्के का है कि इसके लिए एक ऑल इण्डिया संस्था का होना जरूरी है, जो इसके महत्व को समझती हुई इसके प्रचार के उपाय सोचे और करे।

भाषा और लिपि का सम्बन्ध इतना करीबी है कि आप एक को लेकर दूसरे को छोड़ नहीं सकते। संस्कृत से निकली हुई जितनी भाषाएँ हैं, उनको एक लिपि में लिखने में कोई बाधा नहीं है, थोड़ा-सा प्रांतीय संकोच चाहे हो। पहले भी स्व० बाबू शारदाचरण मित्र ने एक लिपि-विस्तार-परिषद् बनाई थी और कुछ दिनों तक एक पत्र निकालकर वह आन्दोलन चलाते रहे; लेकिन उससे कोई खास फायदा न हुआ। केवल लिपि एक हो जाने से भाषाओं का अन्तर कम नहीं होता और हिन्दी लिपि में मराठी समझना उतना ही मुश्किल है, जितना मराठी लिपि में। प्रान्तीय भाषाओं को हम प्रान्तीय लिपियों में लिखते जायँ, कोई एतराज नहीं; लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए एक लिपि रखना ही सुविधा की बात है, इसलिए नहीं कि हमें हिन्दी लिपि से खास मोह है बल्कि इसलिए कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा है और उसके सीखने में भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती। लेकिन उर्दू लिपि हिंदी से बिलकुल जुदा है और जो लोग उर्दू लिपि के आदि हैं, उन्हें हिंदी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर जबान एक हो जाय, तो लिपि का भेद कोई महत्व नहीं रखता। अगर उर्दूदाँ आदमी को मालूम हो जाय कि केवल हिंदी अक्षर सीखकर वह डा० टैगोर या महात्मा गाँधी के विचारों को पढ़ सकता है, तो वह हिंदी सीख लेगा। यू० पी० के प्राइमरी स्कूलों में तो दोनों लिपियों की शिक्षा दी जाती है। हर एक बालक उर्दू और हिन्दी की वर्णमाला जानता है। जहाँ तक हिन्दी लिपि पढ़ने की बात है, किसी उर्दूदाँ को एतराज न होगा। स्कूलों में

हफ्ते में एक घण्टा दे देने से हिन्दीवालों को उर्दू और उर्दूवालों को हिन्दी लिपि सिखाई जा सकती है। लिखने के विषय में यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। उर्दू में स्वर आदि के ऐब होने पर भी उसमें गति का एक ऐसा गुण है कि उर्दू जाननेवाले उसे नहीं छोड़ सकते और जिन लोगों का इतिहास और संस्कृति और गौरव उर्दू लिपि में सुरक्षित है, उनसे मौजूदा हालत में उसके छोड़ने की आशा भी नहीं की जा सकती। उर्दूदाँ लोग हिन्दी जितनी आसानी से सीख सकते हैं, इसका लाजिम नतीजा यह होगा कि ज्यादातर लोग लिपि सीख जायंगे और राष्ट्रभाषा का प्रचार दिन-दिन बढ़ता जायगा। लिपि का फैसला समय करेगा। जो ज्यादा जानदार है, वह आगे आयेगी। दूसरी पीछे रह जायेगी। लिपि के भेद का विषय छेड़ना घोड़े के आगे गाड़ी को रखना होगा। हमें इस शर्त को मानकर चलना है कि हिन्दी और उर्दू दोनों ही राष्ट्र-लिपियाँ हैं और हमें अख्तियार है, हम चाहे जिस लिपि में उसका व्यवहार करें। हमारी सुविधा, हमारी मनोवृत्ति, और हमारे सस्कार इसका फैसला करेंगे।*



*बम्बई के 'राष्ट्र-भाषा-सम्मेलन' में स्वागताध्यक्ष की हैसियत से २७-१०-३४ को दिया गया भाषण।

हिन्दी-उर्दू की एकता

सज्जनो, आर्य समाज ने इस सम्मेलन का नाम आर्य भाषा सम्मेलन शायद इसलिए रखा है कि यह समाज के अन्तर्गत उन भाषाओं का सम्मेलन है, जिनमें आर्यसमाज ने धर्म का प्रचार किया है। और उनमें उर्दू और हिन्दी दोनों का दर्जा बराबर है। मैं तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूँ उतनी तहजीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूँ। बल्कि आप क्षमा करें तो मैं कहूँगा कि उसके तहजीबी कारनामे उसके धार्मिक कारनामों से ज्यादा प्रसिद्ध और रौशन हैं। आर्य समाज ने सावित कर दिया है कि सेवा ही किसी धर्म के सजीव होने का लक्षण है। सेवा का ऐसा कौन-सा क्षेत्र है जिसमें उसकी कीर्ति की ध्वजा न उड़ रही हो। क़ौमी जिन्दगी की समस्याओं को हल करने में उसने जिस दूरंदेशी का सबूत दिया है, उस पर हम गर्व कर सकते हैं। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्यसमाज ने कदम उठाया। लड़कियों की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है। जाति-भेद-भाव और खान-पान के छूत-छात और चौके-चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्मसमाज ने इस दिशा में पहले कदम रखा, पर वह थोड़े से अंग्रेजी पढ़े—लिखों तक ही रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुँचाने का बीड़ा आर्यसमाज ने ही उठाया। अन्ध-विश्वास और धर्म के नाम पर किये जानेवाले हजारों अनाचारों की कब्र उसने खोदी, हालाँकि मुर्दे को उसमें दफन न कर सका और

अभी तक उसका जहरीला दुर्गन्ध उड़-उड़कर समाज को दूषित कर रहा है। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल (सतह) को आर्यसमाज ने जितना उठाया है, शायद ही भारत की किसी संस्था ने उठाया हो। उसके उपदेशकों ने वेदों और वेदांगों के गहन-विषयों को जन-साधारण की सम्पत्ति बना दिया, जिन पर विद्वानों और आचार्यों के कई-कई लीवर वाले ताले लगे हुए थे। आज आर्यसमाज के उत्सवों और गुरुकुलों के जलसों में हजारों मामूली लियाकत के स्त्री-पुरुष सिर्फ विद्वानों के भाषण सुनने का आनन्द उठाने के लिए खिंचे चले जाते हैं। गुरुकुलाश्रम को नया जन्म देकर आर्यसमाज ने शिक्षा को सम्पूर्ण बनाने का महान् उद्योग किया है। सम्पूर्ण से मेरा आशय उस शिक्षा का है जो सर्वाङ्गपूर्ण हो, जिसमें मन, बुद्धि, चरित्र और देह, सभी के विकास का अवसर मिले। शिक्षा का वर्तमान आदर्श यही है। मेरे खयाल में वह चिरसत्य है। वह शिक्षा जो सिर्फ अक्ल तक ही रह जाय; अधूरी है। जिन संस्थाओं में युवकों में समाज से पृथक रहनेवाली मनोवृत्ति पैदा हो, जो अमीर और गरीब के भेद को न सिर्फ़ कायम रखे बल्कि और मजबूत करे, जहाँ पुरुषार्थ इतना कोमल बना दिया जाय कि उसमें मुशकिलों का सामना करने की शक्ति न रह जाय, जहाँ कला और संयम में कोई मेल न हो, जहाँ की कला केवल नाचने-गाने और नकल करने में ही जाहिर हो, उस शिक्षा का मैं कायल नहीं हूँ। शायद ही मुल्क में कोई ऐसी शिक्षा संस्था हो जिसने कौम की पुकार का इतनी जवाँमर्दी से स्वागत किया हो। अगर विद्या हममें सेवा और त्याग का भाव न लाये, अगर विद्या हमें आदर्श के लिए सीना खोलकर खड़ा होना न सिखाये, अगर विद्या हममें स्वाभिमान न पैदा करे; और हमें समाज के जीवन प्रवाह से अलग रखे तो उस विद्या से हमारी अविद्या अच्छी। और समाज ने हमारी भाषा के साथ जो उपकार किया है उसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण यह है कि स्वामी दयानन्द ने इसी भाषा में सत्यार्थप्रकाश लिखा और उस वक्त लिखा जब उसकी इतनी चर्चा न थी। उनकी बारीक नजर ने देख लिया कि अगर जनता में प्रकाश ले जाना है तो उसके लिए हिन्दी भाषा ही

अकेला साधन है, और गुरुकुलों ने हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर अपने भाषा-प्रेम को और भी सिद्ध कर दिया है।

सज्जनो, मैं यहाँ हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास की कथा नहीं कहना चाहता, वह सारी कथा भाषा-विज्ञान की पोथियों में लिखी हुई है। हमारे लिए इतना ही जानना काफी है कि आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह-सोलह करोड़ लोगों के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ, वह लिखी जाती है दो लिपियों में और उसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं। पर है वह एक ही। बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फर्क है, हाँ लिखने में वह फर्क बढ़ जाता है। मगर उस तरह का फर्क सिर्फ हिन्दी में ही नहीं, गुजराती, बंगला और मराठी वगैरह भाषाओं में भी कमोबेश वैसा ही फर्क पाया जाता है। भाषा के विकास में हमारी संस्कृति की छाप होती है, और जहाँ संस्कृति में भेद होगा वहाँ भाषा में भेद होना स्वाभाविक है। जिस भाषा का हम और आप व्यवहार कर रहे हैं, वह देहली प्रांत की भाषा है। उसी तरह जैसे ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, भोजपुरी और मारवाड़ी आदि भाषाएँ अलग-अलग क्षेत्रों में बोली जाती हैं और सभी साहित्यिक भाषा रह चुकी हैं। बोली का परिमार्जित रूप ही भाषा है। सबसे ज़्यादा प्रसार तो ब्रजभाषा का है क्योंकि यह आगरा प्रांत के बड़े हिस्से की ही नहीं, सारे बुन्देलखन्ड की बोलचाल की भाषा है। अवधी अवध प्रांत की भाषा है। भोजपुरी प्रांत के पूर्वी जिलों में बोली जाती है, और मैथिली बिहार प्रांत के कई जिलों में। ब्रजभाषा में जो साहित्य रचा गया है, वह हिन्दी के पद्य-साहित्य का गौरव है। अवधी का प्रमुख ग्रंथ तुलसीकृत रामायण और मलिक मुहम्मद जायसी का रचा हुआ पद्मावत है। मैथिली में विद्यापति की रचनाएँ ही मशहूर हैं। मगर साहित्य में आम तौर पर मैथिल का व्यवहार कम हुआ। साहित्य में तो अवधी और ब्रजभाषा का व्यवहार होता था। हिन्दी के विकास के पहले ब्रजभाषा ही हमारी साहित्यिक भाषा थी और प्रायः उन सभी प्रदेशों में जहाँ आज हिन्दी का प्रचार है, पहले ब्रजभाषा का प्रचार था। अवध में और काशी में भी कवि लोग अपने कवित्त ब्रजभाषा

में ही कहते थे। यहाँ तक कि गया में भी व्रजभाषा का ही प्रचार होता था।

तो यकायक व्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि को पीछे हटाकर हिन्दी कैसे सबके ऊपर गालिब आयी, यहाँ तक कि अब अवधी और भोजपुरी का तो साहित्य में कहीं व्यवहार नहीं है। हाँ, व्रजभाषा को अभी तक थोड़े-से लोग सीने से चिपटाये हुए हैं। हिन्दी को यह गौरव प्रदान करने का श्रेय मुसलमानों को है। मुसलमानों ने ही दिल्ली प्रांत की इस बोली को, जिसको उस वक्त तक भाषा का पद न मिला था, व्यवहार में लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामंत जिन प्रांतों में गये, हिन्दी भाषा को साथ लेते गये। उन्हीं के साथ वह दक्खिन में पहुँची और उसका बचपन दक्खिन ही में गुजरा। दिल्ली में बहुत दिनों तक अराजकता का जोर रहा, और भाषा को विकास का अवसर न मिला। और दक्खिन में वह पलती रही। गोलकुंडा, बीजापुर, गुलबर्गा आदि के दरबारों में इसी भाषा में शेर-शायरी होती रही। मुसलमान बादशाह प्रायः साहित्यप्रेमी होते थे। बाबर, हुमायूँ, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब, दाराशिकोह सभी साहित्य के मर्मज्ञ थे। सभी ने अपने-अपने रोजनामचे लिखे हैं। अकबर खुद शिक्षित न हो, मगर साहित्य का रसिक था। दक्खिन के बादशाहों में अकसर ने कविताएँ कीं और कवियों को आश्रय दिया। पहले तो उनकी भाषा कुछ अजीब खिचड़ी-सी थी जिसमें हिन्दी, फारसी सब कुछ मिला होता था। आपको शायद मालूम होगा कि हिन्दी की सबसे पहली रचना खुसरो ने की है, जो मुगलों से भी पहले खिलजी राजकाल में हुए। खुसरो की कविता का एक नमूना देखिये —

जब यार देखा नैन भर, दिल की गयी चिन्ता उतर,
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाय कर।
जब आँख से ओझल भया, तड़पन लगा मेरा जिया,
हक्का इलाही क्या किया आँसू चले भरलायकर॥
तूँ तो हमारा यार है, तुम पर हमारा प्यार है;
तुझ दोस्ती बिसियार है, यक शब मिलो तुम आय कर।
मेरा जो मन तुमने लिया, तुमने उठा ग़म को दिया,

ग़म ने मुझे ऐसा किया जैसे पतंगा आग पर ॥

खुसरो की एक दूसरी गजल देखिये —

बह गये बालम, वह गये नदियों किनार,

आप पार उतर गये हम तो रहे अरदार।

भाई रे मल्लाहो हम को उतारो पार,

हाथ का देऊँगी मुंदरी, गल का देऊँ हार।

मुसलमानी जमाने में अवश्य ही हिन्दी के तीन रूप होंगे। एक नागरी लिपि में ठेठ हिन्दी, जिसे भाषा या नागरी कहते थे, दूसरी उर्दू यानी फारसी लिपि में लिखी हुई, फारसी से मिली हुई हिन्दी और तीसरी ब्रज-भाषा। लेकिन हिन्दी-भाषा मौजूदा सूरत में आते-आते सदियाँ गुजर गयीं। यहाँ तक कि सन् १८०३ ई० से पहले का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। सदल मिश्र की 'चन्द्रावती' का रचना-काल १८०३ माना जाता है और सदल मिश्र ही हिन्दी के आदि लेखक ठहरते हैं। इसके बाद लल्लूजी, सैयद इंशा अल्लाह खाँ वगैरह के नाम हैं। इस लिहाज से हिन्दी गद्य का जीवन सवा सौ साल से ज्यादा का नहीं है, और क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि सवा सौ साल पहले जिस जबान में कोई गद्य-रचना तक न थी वह आज सारे हिन्दुस्तान की कौमी जबान बनी हुई है? और इसमें मुसलमानों का कितना सहयोग है, यह हम बता चुके हैं। हमें सन्देह है कि मुसलमानों का सहारा पाये बगैर हमको आज यह दरजा हासिल होता।

जिस तरह हिन्दुओं की हिन्दी का रूप विकसित हो रहा था, उसी तरह मुसलमानों की हिन्दी का रूप भी बदलता जा रहा था। लिपि तो शुरू से ही अलग थी, जबान का रूप भी बदलने लगा। मुसलमानों की संस्कृति ईरान और अरब की है। उसका जबान पर असर पड़ने लगा। अरबी और फारसी के शब्द उसमें आ-आकर मिलने लगे, यहाँ तक कि आज हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग जबानें-सी हो गयी हैं। एक तरफ हमारे मौलवी साहबान अरबी और फारसी के शब्द भरते जाते हैं, दूसरी ओर पण्डितगण, संस्कृत और प्राकृत के शब्द ठूंस रहे हैं और दोनों भाषाएँ जनता से दूर होती जा रही हैं। हिन्दुओं की खासी तादाद अभी

तक उर्दू पढ़ती जा रही है; लेकिन उनकी तादाद दिन-दिन घट रही है। मुसलमानों ने हिन्दी से कोई सरोकार रखना छोड़ दिया। तो क्या यह तै समझ लिया जाय कि उत्तर भारत में उर्दू और हिन्दी दो भाषाएँ अलग-अलग रहेंगी? उन्हें अपने-अपने ढंग पर, अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार बढ़ने दिया जाय, उनको मिलने की और इस तरह उन दोनों की प्रगति को रोकने की कोशिश न की जाय? या ऐसा सम्भव है कि दोनों भाषाओं को इतना समीप लाया जाय कि उनमें लिपि के सिवा कोई भेद न रहे। बहुमत पहले निश्चय की ओर है। हाँ, कुछ थोड़े-से लोग ऐसे भी हैं जिनका खयाल है कि दोनों भाषाओं में एकता लायी जा सकती है, और इस बढ़ते हुए फर्क को रोका जा सकता है; लेकिन उनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज है। ये लोग हिन्दी और उर्दू नामों का व्यवहार नहीं करते, क्योंकि दो नामों का व्यवहार उनके भेद को और मजबूत करता है। यह लोग दोनों को एक नाम से पुकारते हैं और वह 'हिन्दुस्तानी' है। उनका आदर्श है कि जहाँ तक मुमकिन हो लिखी जानेवाली जबान और बोलचाल की जबान की सूरत एक हो, और वह थोड़े से पढ़े-लिखे आदमियों की जबान न रहकर सारी क़ौम की जबान हो। जो कुछ लिखा जाय उसका फायदा जनता भी उठा सके, और हमारे यहाँ पढ़े लिखों की जो एक ज़माअत अलग बनती जा रही है, और जनता से उनका सम्बन्ध जो दूर होता जा रहा है, वह दूरी मिट जाय और पढ़े-वेपढ़े सब अपने को एक जान, एक दिल समझें और कौम में ताकत आवे। चूंकि उर्दू जबान अरसे से अदालती और सभ्य-समाज की भाषा रही है, इसलिए उसमें हजारों फारसी और अरबी के शब्द इस तरह घुल-मिल गये हैं कि बज्र देहाती भी उनका मतलब समझ जाता है। ऐसे शब्दों को अलग करके हिन्दी में विशुद्धता लाने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, हम उसे जबान और कौम दोनों ही के साथ अन्याय समझते हैं। इसी तरह हिन्दी या संस्कृत या अँगरेजी के जो बिगड़े हुए शब्द उर्दू में मिल गये, उनको चुन-चुनकर निकालने और उनकी जगह खालिस फारसी और अरबी के शब्दों के इस्तेमाल को भी उतना ही

एतराज के लायक समझते हैं। दोनों तरह से इस अलगौझे का सबब शायद यही है कि हमारा पढ़ा-लिखा समाज जनता से अलग-थलग होता जा रहा है, और उसे इसकी खबर ही नहीं कि जनता किस तरह अपने भावों और विचारों को अदा करती है। ऐसी जवान जिसके लिखने और समझनेवाले थोड़े-से पढ़े-लिखे लोग ही हों, मसनुई, वेजान और बोझल हो जाती है। जनता का मर्म स्पर्श करने की, उन तक अपना पैगाम पहुँचाने की, उसमें कोई शक्ति नहीं रहती। वह उस तालाब की तरह है जिसके घाट संगमरमर के बने हों जिसमें कमल खिले हों, लेकिन उसका पानी बन्द हो। क्या उस पानी में वह मजा, वह सेहत देनेवाली ताकत, वह सफाई है जो खुली हुई धारा में होती है? कौम की जबान वह है जिसे कौम समझे, जिसमें कौम की आत्मा हो, जिसमें कौम के जज़बात हों। अगर पढ़े-लिखे समाज को जबान ही कौम की ज़बान है तो क्यों न हम अँग्रेजी को कौम की ज़बान समझें क्योंकि मेरा तजरबा है कि आज पढ़ा-लिखा समाज जिस बेतकल्लुफो से अँग्रेजी बोल सकता है, और जिस रवानी के साथ अंग्रेजी लिख सकता है, उर्दू या हिन्दी बोल या लिख नहीं सकता। बड़े-बड़े दफ्तरों में और ऊँचे दायरे में आज भी किसी को उर्दू-हिन्दी बोलने की महोनों, बरसों जरूरत नहीं होती। खानसामे और बैरे भी ऐसे रखे जाते हैं जो अँग्रेजी बोलते और समझते हैं। जो लोग इस तरह की जिन्दगी बसर करने के शौकीन हैं उनके लिए तो उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी का कोई झगड़ा ही नहीं। वह इतनो बुलंदी पर पहुँच गये हैं कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती। वह मुअल्लक़ हवा में लटके रह सकते हैं। लेकिन हम सब तो हजार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। हमें तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है। Intelligentsia में जो कुछ शक्ति और प्रभाव है, वह जनता हो से आता है। उससे अलग रहकर वे हाकिम की सूरत में ही रह सकते हैं, खादिम की सूरत में, जनता के होकर नहीं रह सकते। उनके अरमान और मंसूबे उनके हैं, जनता के नहीं। उनकी आवाज उनकी है, उनमें ज़नसमूह की आवाज की गहराई

और गरिमा और गम्भीरता नहीं है। वह अपने प्रतिनिधि हैं, जनता के प्रतिनिधि नहीं।

बेशक, यह बड़ा जोरदार जवाब है कि जनता में शिक्षा इतनी कम है, समझने की ताकत इतनी कम कि अगर हम उसे जेहन में रखकर कुछ बोलना या लिखना चाहें, तो हमें लिखना और बोलना बन्द करना पड़ेगा। यह जनता का काम है कि वह साहित्य पढ़ने और गहन विषयों को समझने की ताकत अपने में लाये। लेखक का काम तो अच्छी-से अच्छी भाषा में ऊँचे-से-ऊँचे विचारों का प्रकट करना है। अगर जनता का शब्दकोष सौ-दो-सौ निहायत मामूली रोजमर्रा के काम के शब्दों के सिवा और कुछ नहीं है, तो लेखक कितनी ही सरल भाषा लिखे, जनता के लिए वह कठिन ही होगी। इस विषय में हम इतना अर्ज करेंगे कि जनता को इस मानसिक दशा में छोड़ने की जिम्मेदारी भी हमारे ही ऊपर है। हममें जिनके पास इल्म है, और फुरसत है, यह उनका फर्ज था कि अपनी तकरीरों से जनता में जागृति पैदा करते, जनता में ज्ञान के प्रचार के लिए पुस्तकें लिखते और सफरी कुतुबखाने कायम करते। हममें जिन्हें मकदरत है, वह मदरसे खोलने के लिए लाखों रुपये खैरात करते हैं। मैं यह नहीं चाहता कि कौम को ऐसे मुहसिनों को धन्यवाद न देना चाहिये, मगर क्या ऐसी संस्थाएँ न खुल सकती थीं और क्या उनसे कौम का कुछ कम उपकार होता जो भाषणों और पुस्तकों से जनता में साहित्य और विज्ञान का प्रचार करतीं और उनको सभ्यता की ऊँची सतह पर लातीं? आर्यसमाज ने जिस तरह के विषयों का जनता में प्रचार किया है उन विषयों को साधारण पढ़ा-लिखा आर्यसमाजी भी खूब समझता है। अदालती मामलों को, या मुक्ति और आवागमन जैसे गम्भीर विषयों को गाँव के किसान भी अगर ज्यादा नहीं समझते, तो साधारण पढ़-लिखों के बराबर तो समझ ही लेते हैं। इसी तरह अन्य विषयों की चर्चा भी जनता के सामने होती रहती तो हमें यह शिकायत न होती कि जनता हमारे विचारों को समझ नहीं सकती। मगर हमने जनता की परवाह ही कब की है? हमने केवल उसे दुधार गाय समझा है। वह

हमारे लिए अदालतों में मुकदमे लाती रहे, हमारे कारखानों की बनी हुई चीजें खरीदती रहे। इनके सिवा हमने उससे कोई प्रयोजन नहीं रखा, जिसका नतीजा यह है कि आज जनता को अँग्रेजों पर जितना विश्वास है उतना अपना पढ़े-लिखे भाइयों पर नहीं।

संयुक्त-प्रान्त के साबिक (से पहले के गवर्नर सर विलियम मैरिस ने इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकेडेमी खोलते वक्त हिन्दी-उर्दू के लेखकों को जो सलाह दी थी, उसे ध्यान में रखने की आज भी उतनी ही जरूरत है, जितनी उस वक्त थी, शायद और ज्यादा। आपने फरमाया कि हिन्दी के लेखकों को लिखते वक्त यह समझते रहना चाहिए कि उनके पाठक मुसलमान हैं। इसी तरह उर्दू के लेखकों को यह खयाल रखना चाहिए कि उनके कारी हिन्दू हैं।

यह एक सुनहरी सलाह है और अगर हम इसे गाँठ बाँध लें, तो जबान का मसला बहुत कुछ तय हो जाय। मेरे मुसलमान दोस्त मुझे माफ फरमायें अगर मैं कहूँ कि इस मुआमले में वह हिन्दू लेखकों से ज्यादा खतावार हैं। संयुक्तप्रान्त की कॉमन लैंग्वेज रीडरों को देखिए। आप सहल किस्म की उर्दू पायेंगे। हिन्दी की अदबी किताबों में भी अरबी और फारसी के सैकड़ों शब्द धड़ल्ले से लाये जाते हैं। मगर उर्दू साहित्य में फारसीयत की तरफ ही ज्यादा झुकाव है। इसका सबब यही है कि मुसलमानों ने हिन्दी से कोई ताल्लुक नहीं रखा है और न रखना चाहते हैं। शायद हिन्दी से थोड़ी-सी वाकफियत हासिल कर लेना भी वह बर-सरेशान समझते हैं, हालांकि हिन्दी वह चीज है, जो एक हफ्ते में आ जाती है। जब दोनों भाषाओं का मेल न होगा, हिन्दुस्तानी जबान की गाड़ी जहाँ जाकर रुक गयी है, उससे आगे न बढ़ सकेगी। और यह सारी करामात फोर्ट विलियम की है जिसने एक ही जबान के दो रूप मान लिये। इसमें भी उस वक्त कोई राजनीति काम कर रही थी या उस वक्त भी दोनों जबानों में काफ़ी फर्क आ गया था, यह हम नहीं कह सकते। लेकिन जिन हाथों ने यहाँ की ज़बान के उस वक्त दो टुकड़े कर दिये उसने हमारी कौमी जिन्दगी के दो टुकड़े कर दिये। अपने हिन्दू दोस्तों से भी

मेरा यही नम्र निवेदन है कि जिन शब्दों ने जन-साधारण में अपनी जगह बना ली है और उन्हें लोग आपके मुँह या कलम से निकलते ही समझ जाते हैं, उनके लिए संस्कृत-कोष की मदद लेने की जरूरत नहीं। 'मौजूद' के लिए 'उपस्थित', 'इरादा' के लिए 'संकल्प', 'बनावटी' के लिए 'कृत्रिम' शब्दों को काम में लाने की कोई खास जरूरत नहीं। प्रचलित शब्दों को उनके शुद्ध रूप में लिखने का रिवाज भी भाषा को अकारण ही कठिन बना देता है। खेत को क्षेत्र, बरस का वर्ष, छेद को छिद्र, काम को कार्य, सूरज को सूर्य, जमना को यमुना लिखकर आप मुँह और जीभ के लिए ऐसी कसरत का सामान रख देते हैं जिसे नब्बे फीसदी आदमी नहीं कर सकते। इसी मुश्किल को दूर करने और भाषा को सुबोध बनाने के लिए कवियों ने ब्रजभाषा और अवधी में शब्दों के प्रचलित रूप ही रखे थे। जनता में अब भी उन शब्दों का पुराना बिगड़ा हुआ रूप चलता है, मगर हम विशुद्धता की धुन में पड़े हुए हैं।

मगर सवाल यह है, क्या हिन्दुस्तानी में क्लासिकल भाषाओं के शब्द लिये ही न जायँ? नहीं, यह तो हिन्दुस्तानी का गला घोंट देना होगा। आज साइंस की नयी-नयी शाखें निलकती जा रही हैं और नित नयें शब्द हमारे सामने आ रहे हैं, जिन्हें जनता तक पहुँचाने के लिए हमें संस्कृत या फ़ारसी की मदद लेनी पड़ती है। किस्से-कहानियों में तो आप हिन्दुस्तानी जबान का व्यवहार कर सकते हैं, वह भी जब आप गद्य-काव्य न लिख रहे हों, मगर आलोचना या तनकोद, अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन अनेक साइंस के विषयों में क्लासिकल भाषाओं से मदद लिए बगैर काम नहीं चल सकता। तो क्या संस्कृत और अरबी या फारसी से अलग-अलग शब्द बन जायँ? ऐसा हुआ तो एकरूपता कहाँ आयी? फिर तो वही होगा जो इस वक्त हो रहा है। ज़रूरत तो यह है कि एक ही शब्द लिया जाय, चाहे वह संस्कृत से लिया जाय, या फारसी से, या दोनों को मिलाकर कोई नया शब्द गढ़ लिया जाय। Sex के लिए हिन्दी में कोई शब्द अभी तक नहीं बन सका। आम तौर पर 'स्त्री-पुरुष सम्बन्ध' इतना बड़ा शब्द उस भाव को जाहिर करने के लिए काम में लाया जा रहा है। उर्दू में

'जिन्स' का इस्तेमाल होता है । जिंसी, जिंसियत आदि शब्द भी उसी से निकले हैं । कई लेखकों ने हिन्दी में भी जिंसी, जिंस, जिंसियत का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है । लेकिन यह मसला आसान नहीं है । अगर हम इसे मान लें कि हिन्दुस्तान के लिए एक कौमी जबान की ज़रूरत है, जिसे सारा मुल्क समझ सके तो हमें उसके लिए तपस्या करनी पड़ेगी । हमें ऐसी सभाएँ खोलनी पड़ेंगी जहाँ लेखक लोग कभी-कभी मिलकर साहित्य के विषयों पर, या उसकी प्रवृत्तियों पर आपस में खयालात का तबादला कर सकें । दिलों की दूरी भाषा की दूरी का मुख्य कारण है । आपस के हेल-मेल से उस दूरी को दूर करना होगा । राजनीति के पण्डितों ने कौम को जिस दुर्दशा में डाल दिया है, आप और हम सभी जानते हैं । अभी तक साहित्य के सेवकों ने भी किसी-न-किसी रूप में राजनीति के पण्डितों को अगुआ माना है, और उनके पीछे-पीछे चले हैं । मगर अब साहित्यकारों को अपने विचार से काम लेना पड़ेगा । सत्यं, शिवं, सुन्दरं के उसूल को यहाँ भी बरतना पड़ेगा । सियासियात ने सम्प्रदायों को दो कैम्पों में खड़ा कर दिया है । राजनीति की हस्ती ही इस पर कायम है कि दोनों आपस में लड़ते रहें । उनमें मेल होना उसकी मृत्यु है । इसलिए वह तरह-तरह के रूप बदलकर और जनता के हित का स्वाँग भरकर अब तक अपना व्यवसाय चलाती रही है । साहित्य धर्म को फिर्क़ाबन्दी की हद तक गिरा हुआ नहीं देख सकता । वह समाज को सम्प्रदायों के रूप में नहीं, मानवता के रूप में देखता है । किसी धर्म की महानता और फजीलत इसमें है कि वह इन्सान को इन्सान का कितना हमदर्द बनाता है, उसमें मानता (इन्सानियत) का कितना ऊँचा आदर्श है, और उस आदर्श पर वहाँ कितना अमल होता है । अगर हमारा धर्म हमें यह सिखाता है कि इन्सानियत और हमदर्दी और भाईचारा सब कुछ अपने ही धर्मवालों के लिए है और उस दायरे से बाहर जितने लोग हैं, सभी गैर हैं, और उन्हें जिन्दा रहने का कोई हक नहीं, तो मैं उस धर्म से अलग होकर विधर्मी होना ज्यादा पसन्द करूँगा । धर्म नाम है उस रोशनी का जो कतरे को समुद्र में मिल जाने का रास्ता दिखाती है, जो हमारी ज़ात को इमाओस्त

में, हमारी आत्मा को व्यापक सर्वात्म में, मिले होने की अनुभूति या यकीन कराती है। और चूंकि हमारी तबीयतें एक-सी नहीं हैं, हमारे संस्कार एक-से नहीं हैं, हम उसी मंजिल तक पहुँचने के लिए अलग-अलग रास्ते अख्तियार करते हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न धर्मों का ज़हूर हुआ है। यह साहित्य सेवियों का काम है कि वह सच्ची धार्मिक जाग्रति पैदा करें। धर्म के आचार्यों और राजनीति के पण्डितों ने हमें गलत रास्ते पर चलाया है। मगर मैं दूसरे विषय पर आ गया। हिन्दुस्तानी को व्यावहारिक रूप देने के लिए दूसरी तदबीर यह है कि मैट्रिकुलेशन तक उर्दू और हिन्दी हरेक छात्र के लिए लाजमी कर दी जाय। इस तरह हिन्दुओं को उर्दू में और मुसलमानों को हिन्दी में काफी महारत हो जायगी, और अज्ञानता के कारण जो बदगुमानी और सन्देह है, वह दूर हो जायगा। चूंकि इस वक्त भी तालीम का सीगा हमारे मिनिस्टरों के हाथ में है और करिकुलम में इस तब्दीली से कोई जायद खर्च न होगा, इसलिए अगर दोनों भाई मिलकर यह मुतालबा पेश करें तो गवर्नमेंट को उसके स्वीकार करने में कोई इन्कार न हो सकेगा। मैं यकीन दिलाना चाहता हूँ कि इस तज़वीज़ में हिन्दी या उर्दू किसी से भी पक्षपात नहीं किया गया है। साहित्यकार के नाते हमारा यह धर्म है कि हम मुल्क में ऐसी फिजा, ऐसा वातावरण लाने की चेष्टा करें जिससे हम जिन्दगी के हरेक पहलू में दिन-दिन आगे बढ़ें। साहित्यकार पैदाइश से सौन्दर्य का उपासक होता है। वह जीवन के हरेक अङ्ग में, जिन्दगी के हरेक शोबे में, हुस्न का जलवा देखना चाहता है। जहाँ सामञ्जस्य या हम-आहंगी है वही सौन्दर्य है, वही सत्य है, वही हकीकत है। जिन तत्वों से जीवन की रक्षा होती है, जीवन का विकास होता है, वही हुस्न है। वह वास्तव में हमारी आत्मा की बाहरी सूरत है। हमारी आत्मा अगर स्वस्थ है, तो वह हुस्न की तरफ बेअख्तियार दौड़ती है। हुस्न में उनके लिए न रुकनेवाली कशिश है। और क्या यह कहने की जरूरत है कि नेफ़ाक़ और हसद, और सन्देह और संघर्ष, यह मनोविकार हमारे जीवन के पोषक नहीं बल्कि घातक हैं, इसलिए वह सुन्दर कैसे हो सकते हैं? साहित्य ने

हमेशा इन विकारों के खिलाफ आवाज उठायी है। दुनिया में मानव-जाति के कल्याण के जितने आन्दोलन हुए हैं, उन सभी के लिए साहित्य ने ही जमीन तैयार की है, जमीन ही नहीं तैयार की, बीज भी बोये और उसकी सिंचाई भी की। साहित्य राजनीति के पीछे चलनेवाली चीज नहीं, उसके आगे-आगे चलने वाला 'एडवांस गार्ड' है। वह उस विद्रोह का नाम है जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति, और कुरुचि से होता है। और लेखक अपनी कोमल भावनाओं के कारण उस विद्रोह की जबान बन जाता है। और लोगों के दिलों पर भी चोट लगती है, पर अपनी व्यथा को, अपने दर्द को दिल हिला देनेवाले शब्दों में वे जाहिर नहीं कर सकते। साहित्य का स्रष्टा उन चोटों को हमारे दिलों पर इस तरह अंकित करता है कि हम उनकी तीव्रता को सौगुने वेग के साथ महसूस करने लगते हैं। इस तरह साहित्य की आत्मा आदर्श है और उसकी देह यथार्थ चित्रण। जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएँ न हों, हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिन्सी भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिए, या भाषा-चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो वह निर्जीव साहित्य है, सत्यहीन, प्राणहीन। साहित्य में हमारी आत्माओं को जगाने की, हमारी मानवता को सचेत करने की, हमारी रसिकता को तृप्त करने की शक्ति होनी चाहिए। ऐसी ही रचनाओं से कौमें बनती हैं। वह साहित्य जो हमें विलासिता के नशे में डुबा दे, जो हमें वैराग्य, पस्तहिम्मती, निराशावाद की ओर ले जाय, जिसके नजदीक संसार दुःख का घर है और उससे निकल भागने में हमारा कल्याण है, जो केवल लिप्सा और भावुकता में डूबी हुई कथाएँ लिखकर कामुकता को भड़काये, निर्जीव है। सजीव साहित्य वह है, जो प्रेम से लबरेज हो, उस प्रेम से नहीं, जो कामुकता का दूसरा नाम है, बल्कि उस प्रेम से जिसमें शक्ति है, जीवन है, आत्म-सम्मान है। अब इस तरह की नीति से हमारा काम न चलेगा।

रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर।

अब तो हमें डा० इक़बाल का शंखनाद चाहिए —

ब शाख़े ज़िन्दगिये मा नमीज़े तिश्ना बसस्त
तलाशे चश्मए हैवां दलीले ब तलबीस्त ।[1]
ता कुजा दर तहे वाले दिगरां मी बाशो,
दर हवाये चमन आज़ाद परीद्न आमोज़ ।[2]
दर जहाँ बालो-परे ख़ेश कुशूदन आमोज़,
कि परीदन् नतवां बा परो बाले दिगरां ।[3]

जब हिन्दुस्तानी कौमी जबान है, क्योंकि किसी न किसी रूप में यह पन्द्रह-सोलह करोड़ आदमियों की भाषा है, तो यह भी जरूरी है कि हिन्दुस्तानी जबान में ही हमें भारतीय साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ पढ़ने को मिलें। आप जानते हैं, हिन्दुस्तान में बारह उन्नत भाषाएँ हैं और उनके साहित्य हैं। उन साहित्यों में जो कुछ संग्रह करने लायक है, वह हमें हिन्दुस्तानी जबान में ही मिलना चाहिये। किसी भाषा में भी जो-जो अमर साहित्य है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति है। मगर अभी तक उन साहित्यों के द्वार हमारे लिए बन्द थे, क्योंकि हिन्दुस्तान की बारह भाषाओं का ज्ञान बिरले को ही होगा। राष्ट्र प्राणियों के उस समूह को कहते हैं कि जिनकी एक विद्या, एक तहजीब हो, एक राजनैतिक संगठन हो, एक भाषा हो और एक साहित्य हो। हम और आप दिल से चाहते हैं कि हिंदुस्तान सच्चे मानी में एक कौम बने। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि भेद पैदा करनेवाले कारणों को मिटायें और मेल पैदा करनेवाले कारणों को संगठित करें। कौम की भावना यूरप में भी दो-ढाई सौ साल से ज्यादा पुरानी नहीं। हिन्दुस्तान में तो यह भावना अंग्रेजी राज के विस्तार के

---

१. मेरे जीवन की डाली के लिए तृषा की तरी ही काफी है। अमृतकुंड की खोज में भटकना आकांक्षा के अभाव का प्रमाण है।

२. दूसरों के डैनों का आश्रय तुम कब तक लोगे? चमन की हवा में आजाद होकर उड़ना सीखो।

३. दुनिया में अपने डैने-पंखे को फैलाना सीखो। क्योंकि दूसरे के डैने-पंखे के सहारे उड़ना सम्भव नहीं है।

साथ ही आयी है। इस गुलामी का एक रोशन पहलू यही है कि उसने हम में कौमियत की भावना को जन्म दिया। इस ख़ुदादाद मौके से फायदा उठाकर हमें कौमियत के अटूट रिश्ते में बँध जाना है। भाषा और साहित्य का भेद ही खास तौर से हमें भिन्न-भिन्न प्रांतीय जत्थों में बाँटे हुए है। अगर हम इस अलग करने वाली बाधा को तोड़ दें तो राष्ट्रीय संस्कृति की एक धारा बहने लगेगी जो कौमियत की सबसे मज-बूत भावना है। यही मकसद सामने रखकर हमने 'हंस' नाम की एक मासिक पत्रिका निकालनी शुरू की है, जिसमें हरेक भाषा के नये और पुराने साहित्य की अच्छी-से-अच्छी चीजें देने की कोशिश करते हैं। इसी मकसद को पूरा करने के लिए हमने एक भारतीय साहित्य परिषद् या हिन्दुस्तान को कौमी अदबी सभा की बुनियाद डालने की तजबीज की है और परिषद् का पहला जलसा २३, २४* को नागपुर में महात्मा गाँधी की सदारत में करार पाया है। हम कोशिश कर रहे हैं कि परिषद् में सभी सूबे के साहित्यकार आयें और आपस में खयालात का तबादला करके हम तजवीज को ऐसी सूरत दें, जिसमें वह अपना मकसद पूरा कर सके। बाज सूबों में अभी से प्रांतीयता के जजबात पैदा होने लगे हैं। 'सूबा सूबेवालों के लिए' की सदाएँ उठने लगी हैं। 'हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों के लिए' की सदा इस प्रांतीयता की चीख-पुकार में कहीं डूब न जाय, इसका अंदेशा अभी से होने लगा है। अगर बंगाल बंगाल के लिए, पंजाब पंजाब के लिए की हवा ने जोर पकड़ा तो वह कौमियत की जो जन्नत गुलामी के पसीने और ज़िल्लत से बनी थी मादूम हो जायगी और हिन्दुस्तान फिर छोटे-छोटे राजों का समूह होकर रह जायगा। और फिर कयामत के पहले उसे पराधीनता की कैद से नजात न होगी। हमें अफ-सोस तो यह है कि इस किस्म की सदाएँ उन दिशाओं से आ रही हैं, जहाँ से हमें एकता की दिल बढ़ानेवाली सदाओं की उम्मीद थी। डेढ़ सौ साल की गुलामी ने कुछ-कुछ हमारी आँखें खोलनी शुरू की थीं कि फिर वही प्रान्तीयता की आवाजें पैदा होने लगीं और इस नयी व्यवस्था ने उन भेद-

* २३, २४, अप्रैल, १९३६।

भावों के फलने-फूलने के लिए जमीन तैयार कर दी है। अगर 'प्राविंशल अटानोमी' ने यह सूरत अख्तियार की तो वह हिन्दुस्तानी कौमियत की जवान मौत नहीं, बाल मृत्यु होगी। और वह तफरीक जाकर रुकेगी कहाँ उसकी तो कोई इति ही नहीं। सूबा सूबे के लिए, जिला जिले के लिए, हिन्दू हिन्दू के लिए, मुसलिम मुसलिम के लिए, ब्राह्मण ब्राह्मण के लिए, वैश्य वैश्य के लिए, कपूर कपूर के लिए, सक्सेना सक्सेना के लिए, इतनी दीवारों और कोठरियों के अन्दर कौमियत कै दिन साँस ले सकेगी! हम देखते हैं कि ऐतिहासिक परम्परा प्रान्तीयता की ओर है। आज जो अलग-अलग सूबे हैं किसी जमाने में अलग-अलग राज थे, कुदरती हदें भी उन्हें दूसरे सूबों से अलग किये हुए हैं, और उनकी भाषा, साहित्य, संस्कृति सब एक है। लेकिन एकता के ये सारे साधन रहते हुए भी वह अपनी स्वाधीनता को कायम न रख सके, इसका सबब यही तो है कि उन्होंने अपने को अपने किले में बन्द कर लिया और बाहर की दुनिया से कोई सम्बन्ध न रखा। अगर उसी अलहदगी की रीति से वह फिर काम लेंगे तो फिर शायद तारीख अपने को दोहराये। हमें तारीख से यह सबक न लेना चाहिए कि हम क्या थे, यह भी देखना चाहिए कि हम क्या हो सकते थे। अकसर हमें तारीख को भूल जाना पड़ता है। भूत हमारे भविष्य का रहबर नहीं हो सकता। जिन कुपथ्य से हम बीमार हुए थे, क्या अच्छे हो जाने पर फिर वही कुपथ्य करेंगे? और चूंकि इस अलहदगी की बुनियाद भाषा है, इसलिए हमें भाषा ही के द्वार से प्रान्तीयता की काया में राष्ट्रीयता के प्राण डालने पड़ेंगे। प्रान्तीयता का सदुपयोग यह है कि हम उस किसान की तरह जिसे मौरूसी पट्टा मिल गया हो अपनी जमीन को खूब जोतें, उसमें खूब खाद डालें और अच्छी-से-अच्छी फसल पैदा करें। मगर उसका यह आशय हर्गिज न होना चाहिए कि हम बाहर से अच्छे बीज और अच्छी खाद लाकर उसमें न डालें। प्रान्तीयता अगर अयोग्यता को कायम रखने का बहाना बन जाय तो यह उस प्रान्त का दुर्भाग्य होगा और राष्ट्र का भी। इस नये खतरे का सामना करना होगा और वह मेल पैदा करनेवाली शक्तियों को संगठित करने से ही हो सकता

है।

सज्जनो, साहित्यिक जागृति किसी समाज की सजीवता का लक्षण है। साहित्य की सबसे अच्छी तारीफ जो की गयी है, वह यह है कि वह अच्छे से अच्छे दिल और दिमाग के अच्छे से अच्छे भावों और विचारों का संग्रह है। आपने अँग्रेजी साहित्य पढ़ा है। उन साहित्यिक चरित्रों के साथ आपने उससे कहीं ज्यादा अपनापा महसूस किया है जितना आप किसी यहाँ के साहब बहादुर से कर सकते हैं। आप उसकी इंसानी सूरत देखते हैं, जिसमें वही वेदनाएँ हैं, वही प्रेम है, वही कमजोरियाँ हैं, जो हममें और आप में हैं। वहाँ वह हुकूमत और गुरूर का पुतला नहीं बल्कि हमारे और आपका-सा इन्सान है जिसके साथ हम दुखी होते हैं, हँसते हैं, सहानुभूति करते हैं। साहित्य बदगुमानियों को मिटानेवाली चीज है। अगर आज हम हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के साहित्य से ज्यादा परिचित हों, तो मुमकिन है हम अपने को एक दूसरे से कहीं ज्यादा निकट पायें। साहित्य में हम हिन्दू नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं हैं, बल्कि मनुष्य हैं, और वह मनुष्यता हमें और आपको आकर्षित करती है। क्या यह खेद की बात नहीं है कि हम दोनों जो एक मुल्क में आठ सौ साल से रहते हैं, एक दूसरे के पड़ोस में रहते हैं, एक दूसरे के साहित्य से इतने बेखबर हैं? यूरोपियन विद्वानों को देखिए। उन्होंने हिन्दुस्तान के मुतअल्लिक हर एक मुमकिन विषय पर तहकीकातें की हैं, पुस्तकें लिखी हैं, वह हमें उससे ज्यादा जानते हैं जितना हम अपने को जानते हैं। उसके विपरीत हम एक दूसरे से अनभिज्ञ रहने ही में मग्न हैं। साहित्य में जो सबसे बड़ी खूबी है, वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममें सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है। जिस हिन्दू ने कर्बला के मार्के को तारीख पढ़ी है, यह असम्भव है कि उसे मुसलमानों से सहानुभूति न हो। उसी तरह जिस मुसलमान ने रामायण पढ़ा है, उसके दिल में हिन्दू मात्र से हमदर्दी पैदा हो जाना यकीनी है। कम-से-कम उत्तरी हिन्दुस्तान में हरेक शिक्षित हिन्दू-मुसलिम को अपनी तालीम अधूरी समझनी चाहिए, अगर वह मुसलमान है तो हिन्दुओं के

और हिन्दू हैं तो मुसलमानों के साहित्य से अपरिचित हैं। हम दोनों ही के लिए दोनों लिपियों का और दोनों भाषाओं का ज्ञान लाजमी है। और जब हम जिन्दगी के पंद्रह साल अँगरेजी हासिल करने में कुरबान करते हैं तो क्या महीने-दो-महीने भी उस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने में नहीं लगा सकते, जिस पर हमारी क़ौमी तरक्की ही नहीं, क़ौमी जिन्दगी का दारोमदार है?

आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्यभाषा सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर लाहौर में दिया गया भाषण।

उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी

यह बात सभी लोग मानते हैं कि राष्ट्र को दृढ़ और बलवान बनाने के लिए देश में सांस्कृतिक एकता का होना बहुत आवश्यक है। और किसी राष्ट्र की भाषा तथा लिपि इस सांस्कृतिक एकता का एक अंग है। श्रीमती खलीदा अदीब खानम ने अपने एक भाषण में कहा था कि तुर्की जाति और राष्ट्र की एकता तुर्की भाषा के कारण ही हुई है। और यह निश्चित बात है कि राष्ट्रीय भाषा के बिना किसी राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब तक भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय भाषा न हो, तब तक वह राष्ट्रीयता का दावा नहीं कर सकता। सम्भव है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष एक राष्ट्र रहा हो; परन्तु बौद्धों के पतन के उपरान्त उसकी राष्ट्रीयता का भी अन्त हो गया था। यद्यपि देश में सांस्कृतिक एकता वर्तमान थी, तो भी भाषाओं के भेद ने देश को खण्ड-खण्ड करने का काम और भी सुगम कर दिया था। मुसलमानों के शासन-काल में भी जो कुछ हुआ था, उसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों का राजनीतिक एकीकरण तो हो गया था, परन्तु उस समय भी देश में राष्ट्रीयता का अस्तित्व नहीं था। और सच बात तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना अपेक्षाकृत बहुत देर से संसार में उत्पन्न हुई है और इसे उत्पन्न हुए लगभग दो सौ वर्षों से अधिक नहीं हुए। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का आरम्भ अंगरेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ हुआ। और उसी की दृढ़ता के साथ-साथ इसकी भी वृद्धि हो रही है। लेकिन उस समय राजनीतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न अंगों और तत्वों में कोई ऐसा पारस्परिक

सम्बन्ध नहीं है जो उन्हें संघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप दे सके। यदि आज भारतवर्ष से अंगरेजी राज्य उठ जाय तो इन तत्वों में जो एकता इस समय दिखायी दे रही है, बहुत सम्भव है कि वह विभेद और विरोध का रूप धारण कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओं के आधार पर एक ऐसा नया संघठन उत्पन्न हो जाय जिसका एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो। और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाय जो अंगरेजों के यहाँ आने से पहले थी। अतः राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि देश में सांस्कृतिक एकता हो। और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ है; इसलिये यह बात भी आवश्यक है कि भारतवर्ष की एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा हो जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बोली और समझी जाय। इसी बात का आवश्यक परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों में राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि भी आरम्भ हो जायगी और एक ऐसा समय आयेगा, जब कि भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रों के साहित्यिक मण्डल में हिन्दुस्तानी भाषा भी बराबरी की हैसियत से शामिल होने के काबिल हो जायगी।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप क्या हो? आजकल भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो भाषाएँ प्रचलित हैं, उनमें तो राष्ट्रीय भाषा बनने की योग्यता नहीं, क्योंकि उनके कार्य और प्रचार का क्षेत्र परिमित है। केवल एक ही भाषा ऐसी है जो देश के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती है और उससे भी कहीं बड़े भाग में समझी जाती है। और उसी को राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जा सकता है। परन्तु इस समय उस भाषा के तीन स्वरूप हैं — उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी। और अभी तक यह बात राष्ट्रीय रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है कि इनमें से कौन-सा स्वरूप ऐसा है जो देश में सबसे अधिक मान्य हो सकता है और जिसका प्रचार भी ज्यादा आसानी से हो सकता है। तीनों ही स्वरूपों के पक्षपाती और समर्थक मौजूद हैं और उनमें खींचातानी हो रही है। यहाँ तक कि इस मतभेद को राजनीतिक स्वरूप दे दिया गया है और हम इस प्रश्न पर शान्त चित्त और शान्त मस्तिष्क से विचार करने के अयोग्य हो गये हैं।

लेकिन इन सब रुकावटों के होते हुए भी यदि हम भारतीय राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुँचना और उसकी सिद्धि करना असम्भव समझकर हिम्मत न हार बैठें तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न की किसी न किसी प्रकार मीमांसा करना आवश्यक हो जाता है।

देश में ऐसे आदमियों की संख्या कम नहीं है जो उर्दू और हिन्दी की अलग-अलग और स्वतन्त्र उन्नति और विकास के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहते। उन्होंने यह मान लिया है कि आरम्भ में इन दोनों के स्वरूपों में चाहे जो कुछ एकता और समानता रही हो, लेकिन फिर भी इस समय दोनों की दोनों जिस रास्ते पर जा रही हैं, उसे देखते हुए इन दोनों में मेल और एकता होना असम्भव ही है। प्रत्येक भाषा की एक प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है। उर्दू का फारसी और अरबी के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। और हिन्दी का संस्कृत तथा प्राकृत के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध है। उनकी यह प्रवृत्ति हम किसी शक्ति से रोक नहीं सकते। फिर इन दोनों को आपस में मिलाने का प्रयत्न करके हम क्यों व्यर्थ इन दोनों को हानि पहुँचावें ?

यदि उर्दू और हिन्दी दोनों अपने-आपको अपने जन्म-स्थान और प्रचार-क्षेत्र तक ही परिमित रखें तो हमें इनकी प्राकृतिक वृद्धि और विकास के सम्बन्ध में कोई आपत्ति न हो। बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू और कन्नड़ी आदि प्रान्तीय भाषाओं के सम्बन्ध में हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। उन्हें अधिकार है कि वे अपने अन्दर चाहे जितनी संस्कृत, अरबी या लैटिन आदि भरती चलें। उन भाषाओं के लेखक आदि स्वयं ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं; परन्तु उर्दू और हिन्दी की बात इन सबसे अलग है। यहाँ तो दोनों ही भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा कहलाने का दावा करती हैं। परन्तु वे अपने व्यक्तिगत रूप में राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकीं और इसीलिए संयुक्त रूप में स्वयं ही उनका संयोग और मेल आरम्भ हो गया। और दोनों का यह सम्मिलित स्वरूप उत्पन्न हो गया जिसे हम बहुत ठीक तौर पर हिन्दुस्तानी जबान कहते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय-भाषा न तो

वह उर्दू ही हो सकती है जो अरबी और फारसी के अप्रचलित तथा अपरिचित शब्दों के भार से लदी रहती है और न वह हिन्दी ही हो सकती है जो संस्कृत के कठिन शब्दों से लदी हुई होती है। यदि इन दोनों भाषाओं के पक्षपाती और समर्थक आमने-सामने खड़े होकर अपनी साहित्यिक भाषाओं में वातें करें तो शायद एक दूसरे का कुछ भी मतलब न समझ सकें। हमारी राष्ट्रीय भाषा तो वही हो सकती है जिसका आधार सर्व-सामान्य बोधगम्यता हो — जिसे सब लोग सहज में समझ सकें। वह इस बात को क्यों परवाह करने लगी कि अमुक शब्द इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह फारसी, अरबी अथवा संस्कृत का है? वह तो केवल यह मानदण्ड अपने सामने रखती है कि जन-साधारण यह शब्द समझ सकते हैं या नहीं। और जन-साधारण में हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी, बंगाली, महाराष्ट्रीय और गुजराती सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई शब्द या मुहावरा या पारिभाषिक शब्द जन-साधारण में प्रचलित है तो फिर वह इस बात की परवाह नहीं करती कि वह कहाँ से निकला है और कहाँ से आया है। और यही हिन्दुस्तानी है। और जिस प्रकार अंगरेजों की भाषा अंगरेजी, जापान की जापानी, ईरान की ईरानी और चीन की चीनी है, उसी प्रकार हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय भाषा को इसी तौर पर हिन्दुस्तानी कहना केवल उचित ही नहीं, बल्कि आवश्यक भी है। और अगर इस देश को हिन्दुस्तान न कहकर केवल हिन्द कहें तो इसकी भाषा को हिन्दी कह सकते हैं। लेकिन यहाँ की भाषा को उर्दू तो किसी प्रकार कहा ही नहीं जा सकता, जब तक हम हिन्दुस्तान को उर्दूस्तान न कहने लगें, जो अब किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है। प्राचीन काल के लोग यहाँ की भाषा को हिन्दी ही कहते थे और खुसरो ने खालिकबारी की रचना करके हिन्दुस्तानी की नींव रखी थी। इस ग्रन्थ की रचना में कदाचित् उसका यही अभिप्राय होगा कि जन-साधारण की आवश्यकता के शब्द उन्हें अपने रोजमर्रा के कामों में सहूलियत हो जाय। अभी तक इस बात का निर्णय नहीं हो सका है कि उर्दू की सृष्टि कब और कहाँ हुई थी। जो हो, परन्तु भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो उर्दू ही है और न हिन्दी, बल्कि

वह हिन्दुस्तानी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जाती है और उसके बहुत बड़े भाग में बोली जाती है लेकिन फिर भी लिखी कहीं नहीं जाती। और यदि कोई लिखने का प्रयत्न करता है तो उर्दू और हिन्दी के साहित्यिक उसे टाट बाहर कर देते हैं। वास्तव में उर्दू और हिन्दी की उन्नति में जो बात बाधक है, वह उनका वैशिष्ट्य् प्रेम है। हम चाहे उर्दू लिखें और चाहे हिन्दी, जन-साधारण के लिए नहीं लिखते बल्कि एक परिमित वर्ग के लिए लिखते हैं। और यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाएँ जन-साधारण को प्रिय नहीं होतीं। यह बात बिलकुल ठीक है कि किसी देश में भी लिखने और बोलने की भाषाएँ एक नहीं हुआ करतीं। जो अंग्रेजी हम क़िताबों और अखबारों में पढ़ते हैं; वह कहीं बोली नहीं जाती। पढ़े-लिखे लोग भी उस भाषा में बातचीत नहीं करते जिस भाषा में ग्रन्थ और समाचार-पत्र आदि लिखे जाते हैं। और जन-साधारण की भाषा तो बिलकुल अलग ही होती है। इंग्लैण्ड के हरएक पढ़े-लिखे आदमी से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह लिखी जानेवाली भाषा समझे और अवसर पड़ने पर उसका प्रयोग भी कर सके। यही बात हम हिन्दुस्तान में भी चाहते हैं।

परन्तु आज क्या परिस्थिति है? हमारे हिन्दीवाले इस बात पर तुले हुए हैं कि हम हिन्दी से भिन्न भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में किसी तरह घुसने ही न देंगे। उन्हे 'मनुष्य' से तो प्रेम है परन्तु 'आदमी' से पूरी-पूरी घृणा है। यद्यपि 'दरख्वास्त' जन-साधारण में भली-भाँति प्रचलित है परन्तु फिर भी उनके यहाँ इसके प्रयोग वर्जित है। इसके स्थान पर वे 'प्रार्थना पत्र' ही लिखना चाहते हैं, यद्यपि जन-साधारण इसका मतलब बिल्कुल ही नहीं समझता। 'इस्तीफा' को वे किसी तरह मंजूर नहीं कर सक़ते और इसके स्थान पर 'त्याग-पत्र' रखना चाहते हैं। 'हवाई जहाज' चाहे कितना सुबोध क्यों न हो, परन्तु उन्हें 'वायुयान' की सर ही पसन्द है। उर्दूवाले तो इस बात पर और भी लट्टू हैं। वे 'ख़ुदा' को तो मानते हैं, परन्तु 'ईश्वर' को नहीं मानते। 'कुसूर' तो वे बहुत-से कर सकते हैं, परन्तु 'अपराध' कभी नहीं कर सक़ते। 'खिदमत' तो उन्हें बहुत पसन्द

है, परन्तु 'सेवा' उन्हें एक आँख भी नहीं भाती है। इसी तरह हम लोगों ने उर्दू और हिन्दी के दो अलग-अलग कैम्प बना लिये हैं। और मजाल नहीं कि एक कैम्प का आदमी दूसरे कैम्प में पैर भी रख सके। इस दृष्टि से हिन्दी के मुकाबले में उर्दू में कहीं अधिक कड़ाई है। हिन्दुस्तानी इस चहारदीवारी को तोड़कर दोनों में मेल-जोल पैदा कर देना चाहती है, जिनमें दोनों एक दूसरे के घर बिना किसी प्रकार के संकोच के आ-जा सकें और वह भी सिर्फ मेहमान के हैसियत से नहीं, बल्कि घर के आदमी की तरह। गारसन डि टासी के शब्दों में उर्दू और हिन्दी के बीच में कोई ऐसी विभाजक रेखा नही खींची जा सकती, जहाँ एक को विशेष रूप से हिन्दी और दूसरी को उर्दू कहा जा सके। अँग्रेजी भाषा के भी अनेक रंग हैं। कहीं लैटिन और यूनानी शब्दों की अधिकता होती है, कहीं ऐंग्लो-सैक्सन शब्दों की। परन्तु हैं दोनों ही अँग्रेजी। इसी प्रकार हिन्दी या उर्दू शब्दों के विभेद के कारण दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ नहीं हो सकतीं। जो लोग भारतीय राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते हैं जो इस सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिन्दुस्तानी का निमन्त्रण ग्रहण करें, जो कोई नयी भाषा नहीं है बल्कि उर्दू और हिन्दी का राष्ट्रीय स्वरूप है।

संयुक्त प्रान्त के अपर प्राइमरी स्कूलों में चौथे दरजे तक इसी मिश्रित भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की रीडरें पढ़ाई जाती हैं। केवल उनको लिपि अलग होती है। उनकी भाषा में कोई अन्तर ही नहीं होता। इसमें शिक्षा-विभाग का उद्देश्य यह होगा कि इस प्रकार विद्यार्थियों से बचपन में ही हिन्दुस्तानी की नींव पड़ जायगी और वे उर्दू तथा हिन्दी के विशेष प्रचलित शब्दों से भली-भाँति परिचित हो जायेंगे और उन्हीं का प्रयोग करने लगेंगे। इसमें दूसरा लाभ यह भी है कि एक ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है। इस समय भी यही व्यवस्था प्रचलित है। लेकिन हिन्दी और उर्दू के पक्षपातियों की ओर से इसकी शिकायतें शुरू हो गयी हैं कि इस मिश्रित भाषा की शिक्षा से विद्यार्थियों को कुछ भी साहित्यिक ज्ञान नहीं होने पाता और वे अपर प्राइमरी के बाद भी साधारण पुस्तकें

तक नहीं समझते। इसी शिकायत को दूर करने के लिए इन रीडरों के अतिरिक्त अपर प्राइमरी दरजों के लिए साहित्यिक रीडर भी नियत हुई है। हमारे मासिक-पत्र, समाचार-पत्र और पुस्तकें आदि विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित होती हैं। इसलिए जब तक उर्दू पढ़ने वाले लड़के के पास फारसी और अरबी शब्दों का और हिन्दी पढ़नेवाले लड़के के पास संस्कृत शब्दों का यथेष्ट भण्डार न हो, तब तक वे उर्दू या हिन्दी की कोई पुस्तक नहीं समझ सकते। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही हमारे यहाँ उर्दू और हिन्दी का विभेद आरम्भ हो जाता है। क्या इस विभेद को मिटाने का कोई उपाय नहीं है?

जो लोग इस विभेद के पक्षपाती हैं, उनके पास अपने-अपने दावे की दलीलें और तर्क भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती कहते हैं कि संस्कृत की ओर झुकने से हिन्दी भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं के पास पहुँच जाती है, अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे बने-बनाये शब्द मिल जाते हैं, लिखावट में साहित्यिक रूप आ जाता है, आदि, आदि। इसी तरह उर्दू का झण्डा लेकर चलनेवाले कहते हैं कि फारसी और अरबी की ओर झुकने से एशिया की दूसरी भाषाएँ, जैसे फारसी और अरबी, उर्दू के पास आ जाती हैं। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे अरबी का विद्या-सम्बन्धी भंडार मिल जाता है, जिससे बढ़कर विद्या की भाषा और कोई नहीं है, और लेखन-शैली में गम्भीरता और शान आ जाती है, आदि, आदि। इसलिए क्यों न इन दोनों को अपने-अपने ढंग पर चलने दिया जाय और उन्हें आपस में मिलाकर क्यों दोनों के रास्तों में रुकावटें पैदा की जायँ? यदि सभी लोग इन तर्कों से सहमत हो जायँ, तो इसका अभिप्राय वही होगा कि हिन्दुस्तान में कभी राष्ट्रीय भाषा को सृष्टि न हो सकेगी। इसलिए हमें आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके, हम इस प्रकार की धारणाओं को दूर करके ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करें जिससे हम दिन पर दिन राष्ट्रीय भाषा के और भी अधिक समीप पहुँचते जायँ, और सम्भव है कि दस-बीस वर्षों में हमारा स्वप्न यथार्थता में परिणित हो जाय। हिन्दुस्तान के हर एक सूबे में मुसल-

मानों की थोड़ी-बहुत संख्या मौजूद ही है। संयुक्तप्रान्त के सिवा और-और सूबों में मुसलमानों ने अपने-अपने सूबे की भाषा अपना ली है। बंगाल का मुसलमान बंगला बोलता और लिखता है, गुजरात का गुजराती, मैसूर की कन्नड़ी, मदरास का तालिम और पंजाब का पंजाबी आदि। यहाँ तक कि उसने अपने-अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है। उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग हो सकता है, लेकिन नित्यप्रति के जीवन में उसे उर्दू की बिलकुल आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि दूसरे-दूसरे सूबों के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्संकोच भाव से सीख सकते हैं और उसे यहाँ तक अपनी भी बना सकते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा में नाम को भी कोई भेद नहीं रह जाता, तो फिर संयुक्तप्रान्त और पंजाब के मुसलमान क्यों हिन्दी से इतनी घृणा करते हैं ?

हमारे सूबे के देहातों में रहनेवाले मुसलमान प्रायः देहातियों की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत-से मुसलमान देहातों से आकर शहर में आबाद हो गये हैं, वे भी अपने घरों में देहाती जबान ही बोलते हैं। बोलचाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनता होती है और न बोलचाल की उर्दू समझने में साधारण हिन्दुओं को ही। बोलचाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक-सी ही हैं। हिन्दी के जो शब्द साधारण पुस्तकों और समाचार-पत्रों में व्यवहृत होते हैं और कभी-कभी पण्डितों के भाषणों में भी आ जाते हैं, उनकी संख्या दो हज़ार से अधिक न होगी। इसी प्रकार फारसी के साधारण शब्द भी इससे अधिक न होंगे। क्या उर्दू के वर्तमान कोषों में दो हजार हिन्दी शब्द और हिन्दी के कोषों में दो हजार उर्दू शब्द नहीं बढ़ाये जा सकते और इस प्रकार हम एक मिश्रित कोष की सृष्टि नहीं कर सकते ? क्या हमारी स्मरण-शक्ति पर यह भार असह्य होगा ? हम अँग्रेजी के असंख्य शब्द याद कर सकते हैं और वह भी केवल एक अस्थायी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए। तो फिर क्या हम एक स्थायी उद्देश्य की सिद्धि के लिए थोड़े-से शब्द भी याद नहीं कर सकते ? उर्दू और हिन्दी भाषाओं में

न तो अभी विस्तार ही है और न दृढ़ता। उनके शब्दों की संख्या परिमित है। प्रायः साधारण अभिप्राय प्रकट करने के लिए भी उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। शब्दों की इस वृद्धि से यह शिकायत दूर हो सकती है।

भारतवर्ष की सभी भाषाएँ या तो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत से निकली हैं। गुजराती, मराठी और बँगला की तो लिपियाँ भी देवनागरी से मिलती-जुलती हैं। यद्यपि दक्षिण भारत की भाषाओं की लिपियाँ बिलकुल भिन्न हैं; परन्तु फिर भी उनमें संस्कृत शब्दों की बहुत अधिकता है। अरबी और फारसी के शब्द भी सभी प्रान्तीय भाषाओं में कुछ-न-कुछ मिलते हैं। परन्तु उसमें संस्कृत शब्दों की उतनी अधिकता नहीं होती, जितनी हिन्दी में होती है। इसलिए यह बात बिलकुल ठीक है कि भारतवर्ष में ऐसी हिन्दी बहुत सहज में स्वीकृत और प्रचलित हो सकती है जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक हों। दूसरे प्रान्तों के मुसलमान भी ऐसी हिन्दी सहज में समझ सकते हैं परन्तु फारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई उर्दू भाषा के लिए संयुक्त प्रान्त और पंजाब के नगरों और कस्बों तथा हैदराबाद के बड़े-बड़े शहरों के सिवा और कोई क्षेत्र नहीं। मुसलमान संख्या में अवश्य आठ करोड़ हैं; लेकिन उर्दू बोलने-वाले मुसलमान इसके एक चौथाई से अधिक न होंगे। ऐसी अवस्था में क्या उच्चकोटि की राष्ट्रीयता के विचार से इसकी आवश्यकता नहीं है कि उर्दू में कुछ आवश्यक सुधार और वृद्धि करके उसे हिन्दी के साथ मिला लिया जाय? और हिन्दी में भी इसी प्रकार की वृद्धि करके उसे उर्दू से मिला दिया जाय? और इस मिश्रित भाषा को इतना दृढ़ कर दिया जाय कि वह सारे भारतवर्ष में बोली-समझी जा सके? और हमारे लेखक जो कुछ लिखें, वह एक विशेष क्षेत्र के लिए न हो बल्कि सारे भारतवर्ष के लिए हो? सिन्धी भाषा इस प्रकार के मिश्रण का बहुत अच्छा उदाहरण है। सिन्धी भाषा की केवल लिपि अरबी है; परन्तु उसमें हिन्दी के सभी तत्त्व सम्मिलित कर लिये गये हैं। और शब्दों की दृष्टि से भी उसमें संस्कृत, अरबी और फारसी का कुछ ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि कहीं खटक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तानी के लिए भी कुछ इसी प्रकार के सम्मिश्रण

की आवश्यकता है।

जो लोग उर्दू और हिन्दी को बिल्कुल अलग-अलग रखना चाहते हैं, उनका यह कहना एक बहुत बड़ी सीमा तक ठीक है कि मिश्रित भाषा में किस्से-कहानियाँ और नाटक आदि तो लिखे जा सकते हैं, परन्तु विज्ञान और साहित्य के उच्च विषय उसमें नहीं लिखे जा सकते हैं, वहाँ तो विवश होकर फारसी और अरबी के शब्दों से भरी हुई उर्दू और संस्कृत के शब्दों से भरी हुई हिन्दी का व्यवहार आवश्यक हो जायगा। विज्ञान और विद्या-सम्बन्धी विषय लिखने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों की होती है। और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमें विवश होकर अरबी और संस्कृत के असीम शब्द-भण्डारों से सहायता लेनी पड़ेगी। इस समय प्रत्येक प्रान्तीय भाषा अपने लिए अलग-अलग पारिभाषिक शब्द तैयार कर रही है। उर्दू में भी विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द बनाये गये हैं और अभी यह क्रम चल रहा है। क्या यह बात कहीं अधिक उत्तम न होगी कि भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सभाएँ और संस्थाएँ आपस में मिलकर परामर्श करें और एक दूसरी की सहायता से यह कठिन कार्य पूरा करें? इस समय सभी लोगों को अलग-अलग बहुत कुछ परिश्रम, माथापच्ची और व्यय करना पड़ रहा है और उसमें बहुत कुछ बचत हो सकती है। हमारी समझ में तो यह आता है कि नये सिरे के पारिभाषिक शब्द बनाने की जगह कहीं अच्छा यह होगा कि अंग्रेजी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दों में कुछ आवश्यक परिवर्त्तन करके उन्हीं को ग्रहण कर लिया जाय। ये पारिभाषिक शब्द केवल अँग्रेजी में ही प्रचलित नहीं हैं बल्कि प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में उनसे मिलते-जुलते पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। कहते हैं कि जापानियों ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन किया है और मिस्र में भी थोड़े बहुत सुधार और परिवर्तन के साथ उन्हीं को ग्रहण किया गया है। यदि हमारी भाषा में बटन, लालटेन और बाइसिकिल सरीखे सैकड़ों विदेशी शब्द खप सकते हैं तो फिर पारिभाषिक शब्दों को लेने में कौन-सी बात बाधक हो सकती है? यदि प्रत्येक प्रान्त ने अपने अलग-अलग पारिभाषिक शब्द बना लिये तो फिर भारतवर्ष को

कोई राष्ट्रीय विद्या और विज्ञान-सम्बन्धी भाषा न बन सकेगी। बँगला मराठी, गुजराती और कन्नड़ी आदि भाषाएँ संस्कृत की सहायता से यह कठिनता दूर कर सकती हैं! उर्दू भी अरबी और फारसी की सहायता से अपनी पारिभाषिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती है। परन्तु हमारे लिए ऐसे शब्द प्रचलित अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों से भी कहीं अधिक अपरिचित होंगे। 'आईने अकबरी' ने हिन्दू दर्शन, संगीत और गणित के लिए संस्कृत के प्रचलित पारिभाषिक शब्द ग्रहण करके एक अच्छा उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इस्लामी दर्शन, धर्म-शास्त्र आदि में से हम प्रचलित अरबी पारिभाषिक शब्द ग्रहण कर सकते हैं। जो विद्याएँ पाश्चात्य देशों से अपने-अपने पारिभाषिक शब्द लेकर आयी हैं, यदि उन्हें भी हम उन शब्दों के सहित ग्रहण कर लें तो यह बात हमारी ऐतिहासिक परम्परा से भिन्न न होगी।

यह कहा जा सकता है कि मिश्रित हिन्दुस्तानी उतनी सरस और कोमल न होगी। परन्तु सरलता और कोमलता का मानदण्ड सदा बदलता रहता है। कई साल पहले अचकन पर अँग्रेजी टोपी बेजोड़ और हास्यास्पद मालूम होती थी। लेकिन अब वह साधारणतः सभी जगह दिखायी देती हैं। स्त्रियों के लिए लम्बे-लम्बे सिर के बाल सौन्दर्य का एक विशेष स्तम्भ है; परन्तु आजकल तराशे हुए बाल प्रायः पसन्द किये जाते हैं। फिर किसी भाषा का मुख्य गुण उसकी सरलता नहीं है, बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है। यदि हम सरलता और कोमलता की कुरबानी करके भी अपनी राष्ट्रीय भाषा का क्षेत्र विस्तृत कर सकें तो हमें इसमें संकोच नहीं होना चाहिए। जब कि हमारे राज-नीतिक संसार में एक फेडरेशन या संघ की नींव डाली जा रही है, तब क्यों न हम साहित्यिक संसार में भी एक फेडरेशन या संघ की स्थापना करें, जिसमें हरएक प्रान्तीय भाषा के प्रतिनिधि साल में एक बार एक सप्ताह के लिए किसी केन्द्र में एकत्र होकर राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करें और अनुभव के प्रकाश में सामने आनेवाली समस्याओं की मीमांसा करें? जब हमारे जीवन की प्रत्येक बात और प्रत्येक अंग

में परिवर्तन हो रहे हैं और प्रायः हमारी इच्छा के विरुद्ध भी परिवर्तन हो रहे हैं, तो फिर भाषा के विषय में हम क्यों सौ वर्ष पहले के विचारों और दृष्टिकोणों पर अड़े रहें ? अब वह अवसर आ गया है कि अखिल भारतीय हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य की एक सभा या संस्था स्थापित की जाय जिसका काम ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि करना हो जो प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित हो सके। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा या संस्था के कर्त्तव्य और उद्देश्य क्या होंगे। इसी सभा या संस्था का यह काम होगा कि वह अपना कार्यक्रम तैयार करे। हमारा तो यही निवेदन है कि अब इस काम में ज्यादा देर करने की गुन्जाइश नहीं है।

भारतेन्दु बाबू हरिचन्द्र

हिन्दी भाषा के कवियों में बाबू हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा समझा जाता है। यह ठीक है कि उन्हें तुलसी, सूर, बिहारी या केशव की सी लोकप्रियता नहीं प्राप्त हुई मगर इसका कारण यह नहीं कि वे योग्यता में इन कवियों से घटकर थे। तुलसीदास पद्य-बद्ध आख्यायिका के सम्राट् थे। सूर ने अध्यातम और बिहारी ने सौन्दर्य और प्रेम को कमाल पर पहुँचाया। कबीर ने संसार की निस्सारता का राग गाया मगर हरिश्चन्द्र ने हर रंग की कविता की। वह काव्य-प्रतिभा जो किसी एक रंग को बहुत ऊँचाई तक पहुँचा सकती थी, बिखर गई। इसलिए ये कवि ऊँचाई और गंभीरता में यद्यपि हरिश्चन्द्र से बढ़े हुए हैं मगर काव्य-विस्तार की दृष्टि से हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और उनको गद्य और पद्य दोनों पर समान अधिकार था। गद्य में तो उन्हें मार्गदर्शक का स्थान प्राप्त है। उनके पहले राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिव प्रसाद ने हिन्दी गद्य में ख्याति पायी थी मगर राजा लक्ष्मण सिंह की योग्यता अधिकतर अनुवादों में खर्च हुई और राजा शिव प्रसाद की हिन्दी में उर्दू शब्द बड़ी संख्या में रहते थे। शुद्ध हिन्दी की नींव भारतेन्दु ही के क़लम ने डाली और उस ज़माने से अब तक हिन्दी गद्य ने बहुत कुछ तरक़्क़ी हासिल कर ली है मगर आज भी हरिश्चन्द्र के हिन्दी गद्य की प्रौढ़ता, चुलबुलापन और शुद्धता प्रशंसनीय है। उनकी सबसे अधिक स्मरणीय और स्थायी साहित्यिक पूंजी उनके नाटक हैं। इस मैदान में कोई उनका प्रतियोगी नहीं। हिन्दी नाट्य-कला के वे

प्रवर्तक हैं। उनके पहले हिन्दी भाषा में नाटकों का अस्तित्व न था। राजा लक्ष्मण सिंह ने कालिदास की 'शकुन्तला' का अनुवाद अवश्य किया था ःपर वह केवल अनुवाद था। मौलिक नाटक अप्राप्य थे। बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य की इस कमी को पूरा करने की कोशिश की। उन्होंने छोटे-बड़े अठारह नाटक लिखे जिनमें कुछ मौलिक और कुछ अनुवाद हैं। मौलिक नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द' और 'चन्द्रावलो' ऐसो किताबें हैं जो संसार की किसी भाषा का गौरव हो सकती हैं, और 'मुद्राराक्षस' यद्यपि एक संस्कृत नाटक का अनुवाद है तथापि उच्चकोटि की रचना के सारे गुणों से भरपूर। इस सारे साहित्यिक कृतित्व पर दृष्टि डालकर कह सकते हैं कि हरिश्चन्द्र जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा का कवि हिन्दी भाषा में शायद ही दूसरा पैदा हुआ होगा।

बाबू हरिश्चन्द्र एक नामवर बाप के बेटे थे। उनके पिता बाबू गोपाल चंद्र बनारस के एक जाने-माने रईस थे। वह 'गिरधर' उपनाम से कविता करते थे। नीति-परक विषयों पर लिखने में वह बेजोड़ थे। हरिश्चन्द्र ने धन-सम्पत्ति के साथ काव्य-रचना को योग्यता भी उत्तराधिकार में पाई थी और यद्यपि सम्पत्ति उनके खुले हाथों में बहुत दिन न रही मगर काव्य-रचना के उत्तराधिकार में उन्होंने सपूत बेटे की तरह बहुत कुछ वृद्धि की। वह सम्वत् १९०७ में पैदा हुए और कुछ दिनों घर पर हिन्दी और फ़ारसी पढ़ने के बाद क्वीन्स कालेज में दाखिल हुए मगर यहाँ पढ़ाई का सिलसिला ज़्यादा दिनों तक न चल सका। वह पाँच ही साल के थे कि उनकी माँ का देहान्त हो गया और सम्वत् १९१७ में जब उनकी उम्र दस साल से ज़्यादा न थी, बाबू गोपाल चंद्र का देहान्त हो गया। इन कारणों से उनकी पढ़ाई ढंग से न हुई और छुटपन में ही गृहस्थी का बोझ भी सिर पर आ पड़ा। पढ़ने-लिखने में यूँ ही उनकी तबियत न लगती थी, गृहस्थी एक बहाना हो गई, पढ़ना छोड़ बैठे। मगर इसी उम्र में वह काव्य-रचना की प्रतिभा का प्रमाण दे चुके थे। यह गुण उनमें दैवी था। पाँच ही साल की उम्र में एक दोहा लिखकर अपने कवि पिता को आश्चर्य में डाल दिया था और जिस समय उन्होंने पढ़ना छोड़ा वह अपने

काव्यमर्मज्ञ मित्रों के बीच काफी ख्याति पा चुके थे। जीवन के आरंभिक वर्षों में उन्होंने विद्योपार्जन के प्रति बहुत उत्साह नहीं दिखलाया लेकिन अपनी दैवी बुद्धि से इस कमी को बहुत जल्द पूरा किया और हिन्दुस्तान की कुल भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उनका अँग्रेजी ज्ञान बहुत अच्छा था। यह बात उनके 'दुर्लभ बन्धु' से प्रकट होती है जो शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ़ वेनिस' का अनुवाद है। मराठी, गुजराती, बंगला, पंजाबी, उर्दू, मैथिली इन सब भाषाओं में वह केवल अपने विचार ही प्रकट नहीं कर सकते थे बल्कि कविता भी कर सकते थे। इससे उनकी प्रखर बुद्धि का अंदाज़ा किया जा सकता है।

बाबू हरिश्चन्द्र का खानदान बनारस के जाने-माने और पैसेवाले घरानों में था। उन्हें कई लाख की जायदाद उत्तराधिकार में मिली थी मगर उन्होंने धन-सम्पदा की परवाह करना न सीखा था। दोस्तों के आतिथ्य-सत्कार, विलासपूर्ण जीवन, ग़रीबों की मदद और कवियों की क़द्रदानी में वह रुपया पानी की तरह बहाते थे। दीवाली के रोज़ तेल को जगह इत्र से दिये जलाते थे और सिर और शरीर में तो वह तेल के बदले आमतौर पर खूब मँहगे इत्र मला करते थे। कवियों की क़द्रदानी का यह हाल था कि एक-एक दोहे पर खुश होकर सैकड़ों रुपये इनाम दे देते। याचक को जवाब देना उन्होंने सीखा ही न था। जैसा कि दुनिया का क़ायदा है, ऐसे खर्चीले आदमियों की कमज़ोरी से फ़ायदा उठानेवाले भी ढेरों पैदा हो जाते हैं। बाबू हरिश्चन्द्र की दौलत उनकी नाज़बरदारियों में खूब खर्च होती थी। उनके इस खर्चीलेपन को देखकर एक बार महाराज बनारस ने उनसे कहा, 'बाबूजी, घर देख कर काम करो।' इसका जवाब आपने दिया, 'महाराज, यह दौलत मेरे कितने ही पुरखों को निगल गई है, अब मैं इसे खा जाऊँगा।' इससे उनके स्वभाव की मस्ती का सबूत मिल सकता है।

भारतेन्दु बड़े रँगीले, बाँके, सुन्दर, सजीले आदमी थे। सौन्दर्य-प्रेम उनमें कूट-कूटकर भरा हुआ था। सुन्दरता खुद ब खुद उनकी आँखों में खुब जाती थी और कवि में यह एक विशेष गुण है। चित्रों से उन्हें बड़ा

प्रेम था। बड़ी तलाश और खर्च से उन्होंने एक अनूठा संग्रह एकत्र किया था मगर एक दोस्त को उनके प्रति बहुत अनुरक्त देखकर उन्हें दे डाला। सौन्दर्य की प्रशंसा और वर्णन से उनकी कविता भरी हुई है और साहित्य-रसिकों का विचार है कि इस रंग में उनकी तबियत असाधारण ज़ोर दिखा गई है। नाटकों को छोड़कर, उनका काव्य सौन्दर्य और प्रेम की भावनाओं से भरा हुआ है। प्रत्येक कवि चाहे उसने कैसी ही बहुमुखी प्रतिभा क्यों न पाई हो सिर्फ़ एक ही क्षेत्र में चोटी पर पहुँचता है। हरिश्चन्द्र ने करुणा, प्रेम, प्राकृतिक दृश्य, वीरता, वैराग्य, हास्य, नीति आदि सभी रंगों में अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। मगर वह घुलावट जो उनके सौन्दर्य-चित्रण में पैदा हो गई, दूसरे रंगों में अपेक्षाकृत कम है।

ज़िन्दादिली बाबू हरिश्चन्द्र का विशेष गुण था और वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होती थी। साहित्य-रचना, देशप्रेम, सामाजिकता — इन सब कार्यों में उन्होंने आगे बढ़कर योग दिया। उन्होंने गद्य की कई पत्रिकाएँ जारी कीं और नुक़सान उठाकर चलाईं। साहित्य के विकास के लिए एक संस्था स्थापित की। कुछ दिनों तक एक रीडिंग क्लब चलाया और चौखम्बे में एक अँग्रेज़ी स्कूल क़ायम किया। इसके खर्चे वह बारह साल तक खुद अदा करते रहे। उनका लगाया हुआ यह शिक्षा का पौधा अब एक ऊँचा-पूरा पेड़ हो गया है। इसमें अब स्कूल लीविंग तक की पढ़ाई होती है। मकान नया बन गया है और विद्यार्थियों की संख्या चौगुनी हो गई है। इन बातों से प्रकट होता है कि बाबू हरिश्चन्द्र ज़माने की रफ़्तार से और उनकी आवश्यकताओं से अपरिचित न थे। उनकी ज़िन्दादिली बहुधा चुहल और दिल्लगीबाज़ी में खर्च होती थी। होली के दिनों में उनके यहाँ अबीर और गुलाल का दरिया बहता था। वह खुद कमर में एक मोटा-सा कुण्डा बाँधे, मसखरों का एक तूफ़ाने-बेतमोज़ी साथ लिये बड़ी आज़ादी से कबीरें गाते निकलते थे। इन दिनों में वह फक्कड़, स्वांग, नक़ल, फ़ोहश, किसी से बाज़ न आते थे। अप्रैल की पहली तारीख अंग्रेज़ों के यहाँ दिल्लगी का दिन है। आज के दिन हर क़िस्म का मज़ाक

जायज़ है। बाबू हरिश्चन्द्र इस तारीख को शहरवालों के दिलबहलाव के लिए ज़रूर कोई न कोई गुल खिलाते थे। एक बार एलान कर दिया कि एक मशहूर उस्ताद हरिश्चन्द्र स्कूल में मुफ़्त गाना सुनायेंगे। जब हज़ारों आदमी जमा हो गये तो पर्दा खुला और एक आदमी मसखरों का भेस बनाये, उल्टा तम्बूरा हाथ में लिए बरामद हुआ और बड़ी भोंडी आवाज में रेंकने लगा। लोग समझ गये कि भारतेन्दु ने यह शगूफ़ा खिलाया है। शर्मिन्दा हो कर वापिस गये।

मगर इस आज़ादी और बेफ़िक्री के बावजूद उनके स्वभाव में संतोष भी बहुत था। वह कमज़ोरियों पर कभी-कभी लज्जित भी होते थे मगर नानी* ने हरिशचन्द्र के स्वभाव को देख कर उनके छोटे भाई के नाम सारी जायदाद का हिब्बेनामा कर दिये। हिब्बेनामे पर बाबू हरिश्चन्द्र के दस्तख़त बहुत जरूरी थे मगर जब यह काग़ज़ उनके सामने आया तो उन्होंने बेधड़क उस पर दस्तख़त कर दिये और दो-ढाई लाख की जायदाद की जरा भी परवाह न की। यह उनकी उदारता और निस्पृहता का बहुत अनूठा उदाहरण है।

बाबू हरिश्चन्द्र का साहित्यिक जीवन बाक़ायदा तौर पर अठारहवें साल से शुरू हुआ और यद्यपि उन्होंने उम्र बहुत कम पाई, देहान्त हुआ तो उनकी उम्र सिर्फ़ छत्तीस साल थी, तो भी इन्हीं अठारह वर्षों में उन्होंने अपने क़लम से हिन्दी ज़बान को मालामाल कर दिया। उनकी रचनाएँ तीन हिस्सों में बाँटी जा सकती हैं — नाटक, कविताएँ और गद्य के विविध लेख। इनमें से हर एक की संक्षिप्त चर्चा करना ज़रूरी मालूम होता है।

बाबू हरिश्चन्द्र के नाम से सोलह सम्पूर्ण नाटक मिलते हैं मगर अधिकांश बहुत छोटे हैं जो कुछ ही पन्नों में ही खत्म हो गये हैं। इनमें अधिकांश संस्कृत नाटकों के अनुवाद या रूपान्तर हैं। मौलिक नाटकों की संख्य पाँच से अधिक नहीं। इनमें भी चंद्रावली, नीलदेवी, और सत्य

*बाबू हरिश्चन्द्र की ननिहाल बहुत धनाढ्य थी। बाबू हरिश्चन्द्र और उनके भाई इस जायदाद के उत्तराधिकारी थे।

हरिश्चन्द्र के अलावा और किसी नाटक को ठीक अर्थों में नाटक नहीं कहा जा सकता। वैदिक हिंसा, अंधेर नगरी नाटक नहीं बल्कि राष्ट्रीय और सामाजिक प्रश्नों पर हास्य-व्यंग्यपूर्ण चुटकुले हैं जो बहुत लोकप्रिय हुए और बार-बार खेले गये। 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्र की नैतिक और सांस्कृतिक दुर्बलताएँ बड़े प्रभावशाली, हास्यपूर्ण और कहीं-कहीं दर्दनाक ढंग से दिखाई गई हैं। 'चंद्रावली' प्रेम और प्रेम के रहस्यों की एक पिटारी है जिससे कवि की सूझ-बूझ और मर्मभेदी दृष्टि का बख़ूबी अंदाज़ा किया जा सकता है। 'नीलदेवी' एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमें अमीर अब्दुलशरीफ़ ख़ाँ और महाराज सूरजदेव के मार्के के बयान किये गये हैं और सौन्दर्य व प्रेम के मनचले कवि ने लड़ाई के मैदान में ऐसी काटें की हैं कि उसे पढ़कर दिलों में वीरता की एक लहर पैदा हो जाती है। 'मुद्राराक्षस' यद्यपि संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक का अनुवाद है तो भी इसमें मूल के सब गुण वर्तमान हैं और इसीलिए अनुवाद में जहाँ-तहाँ अनुचित रूपान्तर का धोखा होता है। हरिश्चन्द्र की शायद सबसे प्रसिद्ध कृति 'सत्य हरिश्चन्द्र' है। इसमें महाराज हरिश्चन्द्र की सच्चाई की परीक्षा का ज़िक्र है। 'महाभारत' में इसका संक्षिप्त उल्लेख आया है। जैसे कालिदास ने महाभारत से 'विक्रमोर्वशी' और 'शकुन्तला' का प्लाट लेकर उनकी बुनियाद पर अपने अमर नाटकों की इमारत खड़ी की है उसी तरह बाबू हरिश्चन्द्र ने भी इस नाटक में महाभारत से घटना ले ली है। महाराज हरिश्चन्द्र सूर्यवंश के एक चक्रवर्ती राजा थे जो सच्चाई, वचन-पालन और वफ़ादारी में इस तरह एक कहावत बन गये हैं जिस तरह हनुमान वीरता में, संकल्प में रावण, न्याय में युधिष्ठिर और हिम्मत में भीष्म पितामह। इस नाटक में विश्वामित्र ऋषि का राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा के लिए आना, राजा का विपत्ति में पड़कर बनारस जाना, वहाँ एक डोम के हाथ बिकना, फिर श्मशान की चौकीदारी पर नियुक्त होना, रानी शैव्या का रोहिताश्व की लाश गोद में लेकर आना, राजा का उससे क़फ़न माँगना -- ये घटनाएँ बहुत ही करुण, प्रभावशाली और निपुण ढंग से दिखायी गयी हैं। उनको दुहराने की यहाँ ज़रूरत नहीं है क्योंकि ऐसे

बहुत शिक्षित लोग न होंगे जिन्होंने इस नाटक को न पढ़ा हो या खेले जाते न देखा हो। यह घटनाएँ स्वयं मनुष्य की नैतिक ऊँचाइयों का सुन्दरतम उदाहरण हैं। उन पर बाबू हरिश्चन्द्र की जादू-भरी क़लम ने सोने में सुहागे का काम किया है। हमने कई बार इस नाटक का खेल देखा है। जिस वक़्त शैव्या रोहिताश्व की लाश गोद में लेकर आती है उस वक़्त दर्शकों की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। विलाप का दृश्य इससे अधिक प्रभावशाली अगर किसी हिन्दी कवि ने खींचा है तो वह महाराजा रामचन्द्र का वनवास है। ऐसा कोई कालेज, कोई होस्टल, कोई लिटरेरी सोसाइटी और कोई ड्रामैटिक कंपनी न होगी जिसने यह खेल न किया हो। मगर तुलसी के वनवास की तरह हरिश्चन्द्र का यह वर्णन दिलों पर असर किये बग़ैर नहीं रहता। इसमें कोई शक नहीं कि जब तक हिन्दी भाषा ज़िन्दा रहेगी यह नाटक सर्वप्रिय रहेगा। लेकिन अगर इस नाटक को, जिसके कथानक को रचना में कवि को बहुत ज़्यादा प्रयत्न नहीं करना पड़ा, अलग कर दिया जाये तो बाबू हरिश्चन्द्र के मौलिक नाटकों में एक खास कमज़ोरी नज़र आती है और वह है कथानक की दुर्बलता। यह दोष 'चंद्रावली' और 'नीलदेवी' में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इनमें वर्णनशक्ति, भाव, दृश्य-चित्रण सब कुछ है मगर प्लाट कमज़ोर है और इसी प्लाट की कमज़ोरी ने अच्छे कैरेक्टरों को पैदा न होने दिया। 'हरिश्चन्द्र' के अलावा उनके बाक़ी मौलिक नाटकों में कोई कैरेक्टर ऐसा नहीं — या हैं तो बहुत कम — जो मनुष्य के उच्च जीवन का आदर्श बन सके और नैतिकता के ऊंचे शिखरों तक पहुँचे। घटनाओं के प्रकार पर कैरेक्टरों की हीनता और उच्चता निर्भर है। दुर्बल घटनाओं की स्थिति में ऊँचे कैरेक्टर क्योंकर पैदा हो सकते हैं।

बाबू हरिश्चन्द्र की कविताओं में अगर्चे नाटकों की-सी मौलिकता नहीं, क्योंकि इस मैदान में नया कुछ बहुत कम बचा है, लेकिन उसका स्थान बहुत ऊँचा है। काव्य-मर्मज्ञों ने उसको मान दिया है और हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में उनकी गिनती की है। उर्दू में उदाहरण देकर उनकी कविता की विस्तृत चर्चा नहीं की जा सकती। सिर्फ़ इतना कहना काफ़ी

है कि उन्होंने हर रंग में अपनी प्रतिभा का जौहर दिखाया। सौन्दर्य और वीरता का मैदान उनके लिए इतना ही आसान था जितना कायरता और घृणा का। तब भी जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, प्रेम के रंग में उनकी कविता असाधारण रूप से सशक्त, प्रभावशाली और नैचुरल है। अध्यात्म और वैराग्य में भी उनकी तबियत ने ज़ोर दिखाया है और जब यह ख़याल करो कि यह ऐशपसन्द, शौक़ीन, रसीले कवि की रचना है तो सचमुच आश्चर्य होता है। वह अपने युग के केवल कवि नहीं बल्कि राष्ट्रीय कवि थे, और राष्ट्रभाषा की हैसियत से हर एक पब्लिक और राष्ट्रीय घटना पर उन्होंने आवश्यकतानुसार बधाई, शोक, स्वागत, विदाई आदि की कवितायें लिखी हैं मगर उनमें कोई विशेषता नहीं। कविता से और उसके असली उद्देश्यों से।उनका कवि-स्वभाव कैसा परिचित था वह इस बात से बख़ूबी ज़ाहिर हो जाता है कि उन्होंने कविता के नौ रसों में चार और जोड़े और काव्य-मर्मज्ञों ने इस संशोधन को एक मत से स्वीकार कर लिया।

बाबू हरिश्चन्द्र के गद्य-लेख विभिन्न विषयों पर हैं। ऐतिहासिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, नैतिक — ग़रज़ की सभी प्रश्नों पर उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है मगर उनमें न विचारों की ताज़गी है न खोज, हाँ ज़बान अलबत्ता साफ़-सुथरी है।

हिन्दी के साहित्य संसार ने भारतेन्दु का यद्यपि उतना सम्मान नहीं किया जिसके वह अधिकारी हैं तो भी तुलसी और केशव जैसे उच्चकोटि के कवियों को देखते हुए काफी ग़नीमत है। तुलसी की कोई प्रामाणिक और संपूर्ण जीवनी नहीं, सूर और केशव भी गुमनामी के कूचे में पड़े हुए हैं मगर बाबू हरिश्चन्द्र की कई जीवनियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और उनमें बिहार के बाबू वृजनन्दन सहाय की पुस्तक 'हरिश्चन्द्र का जीवन' बहुत विशद और मनोरंजक है। हिन्दी में उसका वही स्थान है जो उर्दू में 'हयाते ग़ालिब' का है। इन बातों पर नज़र डालते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी में हिन्दी भाषा ने हरिश्चन्द्र जैसा समर्थ, उन्नत-विचार और उमंग से भरपूर कवि नहीं पैदा किया और गो अब भाषा की चर्चा दिन ब दिन ज़्यादा हो रही है मगर अभी बहुत अर्सा गुज़रेगा जब हमको साहित्य की गद्दी पर हरिश्चन्द्र का कोई उत्तराधिकारी दिखायी देगा।

बिहारी

संस्कृत कविता के आचार्यों ने कविता को नौ रसों में बाँटा है। रस का मतलव है कविता का रंग। सौन्दर्य और प्रेम, वीरता, क्रोध, हास्य, भक्ति वग़ैरह। सूरदास शांति और भक्ति रस के कवि थे। बिहारी सौन्दर्य और प्रेम के कवि हैं। उनका रंग उर्दू की ग़ज़लों के रंग से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। हिन्दी के सब कवियों में बिहारो ही को यह विशेषता प्राप्त है। यह पता नहीं चलता कि बिहारी ने फ़ारसी भी पढ़ी थी या नहीं। इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है लेकिन उनकी कविता के रंग पर फ़ारसी ग़ज़लों का रंग वहुत चोखा नज़र आता है। संभव है यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो। सौन्दर्य और प्रेम के सिवाय उन्होंने किसी दूसरे रंग में कविता नहीं की और की भी तो वह नहीं के बरावर है। मगर इसके बावजूद कि उनका क्षेत्र बहुत सीमित है वह भावों की जिस ऊँचाई और गहराई तक पहुँच गये हैं वह इस रंग में किसी दूसरे हिन्दी कवि को नसीब नहीं। वह पिटी-पिटाई कल्पनाओं को कविता में नहीं बाँधते। उनकी सुथरी तबीयत ऐसे विषयों से भागती है जिनमें अब कोई नयापन नहीं रहा। उनमें ग़ालिव की-सी मौलिकता का रुझान है। ग़ालिब की तरह उन्होंने भी प्रेम की ऊँची कसौटो ,अपने सामने रक्खी है और भावों को गंभीरता के स्तर से नहीं गिरने दिया। यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें चंचलता नहीं है। सौन्दर्य और प्रेम की बाटिका में आकर कोरा मुल्ला और रूखा-सूखा उपदेशक वनना मुश्किल है मगर बिहारी के यहाँ ऐसी संयमहीनता के उदाहरण वहुत कम हैं। ग़ालिब की तरह वह भी

बहुत ही कम लिखते थे। उनकी यादगार, ज़िन्दगी भर की कमाई, कुल ७०० दोहे हैं मगर अनुमान होता है कि यह उनकी कुल कविता नहीं बल्कि उसका चुना हुआ कुछ अंश है। जिस कवि ने जीवन भर लिखा हो वह सिर्फ़ ७०० दोहे अपनी यादगार छोड़े इसे बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती। जरूर अन्य कवियों की तरह उन्होंने भी बहुत कुछ लिखा होगा मगर बाद को उच्चकोटि के संयम और आत्मनिग्रह से काम लेकर उन्होंने ठीकरों में से हीरे छाँट लिये और वह हीरे आज उनके नाम को चमका रहे हैं। अगर उनकी सब कविता मौजूद होती तो यह लाल गुदड़ी में छिप जाते या नज़र आते तो सिर्फ़ पारखियों को। दस-पाँच हज़ार शेरों या दोहों में पाँच-सात सौ दोहों का अच्छा होना कोई असाधारण बात नहीं। लगभग सभी कवियों की कविता में यह गुण होता है। जिस शायर ने सारी ज़िन्दगी बकवास ही की और सौ दो सौ जानदार फड़कते हुए अछूते शेर नहीं निकाले उसे शायर कहना ही फ़िजूल है। इस हालत में बिहारी में कोई विशेषता न रहती मगर उनके चुनाव के विस्तार को कम करके उन्हें ऊँचाई के शिखर पर पहुँचा दिया। यह हीरे की माला सतसई के नाम से प्रसिद्ध है यानी सात सौ दोहों का संग्रह। हालांकि तादाद में सात सौ दोहे कुछ ज़्यादा नहीं, इस छोटे से संग्रह में कवि ने सौन्दर्य और प्रेम का सागर भर दिया है। निराशा और कामना और उत्कंठा, वियोग और मिलन और उसका दाह ग़रज कोई भाव आँख से ओझल नहीं हुआ। उस पर बयान का सुथरापन और अलंकारों का चमत्कार इन दोहों को और भी उछाल देता है। अलंकार स्वयं कविता का उत्कर्ष है। कोई रूखा-सूखा विषय भी अलंकारों का जामा पहन कर सँवर जाता है। जो जेरनल सौ सिपाहियों का काम दस सिपाहियों से पूरा करे वह बेशक अपने फ़न का उस्ताद है। अच्छे से अच्छा, अछूता, अनोखा विषय बहुत थोड़े से शब्दों में बात कहने के आभूषण से सजा हुआ न हो तो बेमज़ा हो जाता है। कुछ आलोचकों ने तो इस गुण को इतना महत्व दिया है कि उसे कविता का पर्याय कह दिया है। उनके विचार में कविता अलंकार के सिवा और कुछ नहीं। संस्कृत के पुराने आचार्य अलंकार में बेजोड़ हैं। उन्होंने सारे

उपनिषद् और पिंगल-सूत्रों में लिखे हैं। सूत्र वह छोटा-सा कुल्हड़ है जिसमें दरिया बंद होता है। आज भी दुनिया के विद्वान् इन सूत्रों को देखते हैं और आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबाते हैं। तीन-चार शब्दों का एक टुकड़ा है और उसमें इतना अर्थ भरा हुआ है जो ढेरों शब्दों में भी मुश्किल से अदा हो सकता। कुछ सूत्रों की टीका और भाष्य के बाद के लोगों ने पोथे के पोथे रंग डाले हैं। उर्दू में ग़ालिब और नसीम ने कसाव के साथ बात कहने में कमाल दिखाया है। हिन्दी में यह सेहरा बिहारी के सर है।

कवि के स्थान का पता उसकी लोकप्रियता से चलता है। इस दृष्टि से तुलसी का स्थान पहला है। मगर बिहारी उनसे बहुत पीछे नहीं। कमोवेश तीस कवियों ने सतसई की टीका गद्य और पद्य में लिखी है। पिछले बीस सालों के अंदर इसकी तीन घटनाएँ निकल चुकी हैं। इनमें एक गद्य में है और दो पद्य में। कवियों ने उन पर क़ते लिखे हैं। वासोख्त, तरजीअ, मुखम्मस सब कुछ है। बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी के वर्तमान युग के एक सर्वतोमुखी प्रतिभावाले साहित्यकार हुए हैं। उन्होंने गद्य और पद्य में कितनी ही अमर कृतियाँ छोड़ी हैं और आधुनिक हिन्दी नाटक के तो वह भगवान हैं। उन्होंने सतसई पर कुन्डलियाँ चिपकाने का संकल्प किया मगर सत्तर-अस्सी दोहे से ज़्यादा न जा सके, रचना-शक्ति ने जवाब दे दिया। बिहारी ने दोहे क्या लिखे हैं कवियों के लिए लोहे के चने हैं। जब तक कोई इसी स्तर का कवि सारी उम्र इन दोहों में जान न खपाये; सफल नहीं हो सकता। हिन्दी में बिहारी ही की विशेषता है कि उनकी कविता का संस्कृत में भी अनुवाद हुआ। यह तो उस लोकप्रियता का हल है जो बिहारी को कवियों की मंडली में प्राप्त है, जनसाधारण में भी वह कम लोकप्रिय नहीं हैं। हालाँकि यहाँ उनका स्थान तुलसी और सूर के बाद है। उनके कितने ही दोहे, कहावत बन गये हैं और कितने ही लोगों की जबान पर चढ़े हुए हैं। बिहारी से उर्दू भी अपरिचित नहीं है। यह भी उन्हीं का दोहा है :

अमिय हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत एक बार॥

क्या इस दोहे की टीका करने की ज़रूरत है? उर्दू का साहित्यकार

जब भाषा की कविता की प्रशंसा ज़ोरों से करता है तो वह इस दोहे को पेश करता है और शक नहीं कि कवि ने इसमें कितना अर्थ और भाव भर दिया है वह एक पूरी ग़ज़ल में भी अदा न हो सकता और अदा हो भी जाये तो यह लुत्फ़ कहाँ। कितने थोड़े शब्दों में कितने कसाव के साथ बात कही गई है। शब्दों का कैसा अनूठा चयन। अमिय कहते हैं अमृत को। उसका रंग काला माना गया है। उसके पीर से मुर्दा ज़िंदा हो जाता है। हलाहल कहते हैं ज़हर को। उसका रंग सफ़ेद माना गया है। वह प्राणघातक है। मद कहते हैं शराब को। उसका रंग लाल माना गया है। उसके पीने से आदमी झुक-झुक पड़ता है। यानो प्रेमिका की आँखों में अमृत भी है, विष भी और शराब भी। सुर्खी भी, सफेदी भी और सियाही भी। उसकी चितवन जिलाती है, क़त्ल करती है और नशा पैदा कर देती है। झुक-झुक पड़ना कैसी मनोहर कल्पना है। नशे में भी इंसान की यही हालत होती है। उसके पैर लड़खड़ाते हैं और वह गिरते-गिरते सँभल जाता है।

मुसलमान काव्यमर्मज्ञों ने भी सतसई का बहुत आदर किया। उस ज़माने के मुसलमान लोग हिन्दी में शायरी करना अपनी ज़िल्लत न समझते थे। अगर उर्दू में नसीम और तुफ़्ता थे तो हिन्दी में भी कितने ही मुसलमान कवि मौजूद थे। आलमगीर औरंगजेब के तीसरे बेटे आज़मशाह हिन्द कविता के मर्मज्ञ थे। कविता की रुचि रखते थे। उन्हीं के कहने से सतसई का वर्तमान चयन कार्यान्वित हुआ। हालाँकि और लोगों ने भी इस काम को किया मगर यह चयन सबसे अच्छा है। यह काव्य-नैपुण्य के विचार से किया गया है। बिहारी के सभी दोहे अलंकृत हैं। ऐसा कोई नही जिसमें कोई न कोई काव्य-नैपुण्य न रक्खा गया हो। आज़मशाह ने दोहों की यह माला गूँथ कर अपनी काव्यमर्मज्ञता का बहुत अच्छा प्रमाण दिया है। मुसलमान रईसों और कवियों ने सतसई की खूब दाद दी है। उस वक़्त बावजूद राजनीतिक झगड़ों के क़द्रदानी की स्प्रिट ग़ायब न थी। शेरोसुखन के मामले में जातीय विद्वेष को एक किनारे रख दिया जाता था। सतसई के तीस टीकाकारों में पाँच नाम मुसलमानों के हैं —

१. जुलफ़िक़ार खाँ — बहादुरशाह के बाद जहाँदारशाह के ज़माने में अमीरुलउमरा के पद पर थे। राजनीतिक कामों में पूरे अधिकार प्राप्त थे। जहाँदारशाह तो भोग-विलास में डूबे हुए थे, राज्य के सब काम जुलफ़िक़ार खाँ देखते थे। शहज़ादा फ़र्रुखसियर ने जब बंगाल से आकर जहाँदारशाह पर धावा किया और कई लड़ाइयों के बाद दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया, जुलफ़िक़ार खाँ ने विश्वासघात किया, जहाँदारशाह को गिरफ़्तार करवा दिया। मगर फ़र्रुखसियर ने गद्दी पर बैठने के बाद जुलफ़िक़ार को भी क़त्ल करवा दिया। यह हिन्दी कविता के प्रशंसक थे। इन्हीं की फ़रमाइश से कवियों ने सतसई की एक बहुत अच्छी टीका तैयार की जो आज तक मौजूद है। संभवतः वे खुद भी कवि थे और इससे तो इन्कार ही नहीं हो सकता कि वह कविता के उच्चकोटि के मर्मज्ञ थे।

२. अनवर चन्द्रिका — नवाब अनवर खाँ के दरबार के कवियों ने सतसई पर यह टीका लिखी। रचना काल सन् १८१८ ई०।

३. रस चन्द्रिका — ईसा खाँ उन्नीसवीं सदी में अच्छे हिन्दो कवि हुए हैं। नरवरगढ़ के राजा छत्रसिंह के संकेत पर उन्होंने यह टीका पद्य में तैयार की। बिहारी के दोहों का क्रम उन्होंने अकारादि क्रम से दिया है। रचनाकाल सन् १८६६ ई०।

४. यूसुफ़ खाँ की टीका — यूसुफ़ खाँ का विस्तृत विवरण ज्ञात नहीं है मगर उनकी टीका मार्के की है। रचनाकाल अनुमानतः सन् १८६० ई० है।

५. पठान सुलतान की टीका — रियासत भोपाल के ज़िले राजगढ़ के नवाब सुल्तान पठान ने सन् १८१७ में यह टीका पद्य में लिखी। हिन्दी के अच्छे कवि थे। यह संभवतः उनके दरबार के कवियों की लिखी हुई नहीं बल्कि खुद उन्हीं की लिखी हुई है। यह टीका अब अप्राप्य है।

लेकिन कितने खेद का विषय है कि इस ख्याति और लोकप्रियता और कला की निपुणता के बावजूद बिहारी की जिन्दगी पर एक बहुत अँधेरा पर्दा पड़ा हुआ है। न उसके समकालीन कवियों ने उनकी कोई चर्चा की और न उन्होंने खुद अपने बारे में कुछ लिखा। उनके समकालीनों की कमी

न थी। कमोबेश साठ कवि उनके समकालीन थे। उन सब की कविताएँ मिलती हैं मगर बिहारी के बारे में किसी ने कुछ नहीं लिखा। उनके निजी हालात पूरी तरह केवल उनके तीन दोहों पर निर्भर हैं और वह भी साफ़ तौर पर समझ में नहीं आते। हिन्दी के इतिहासकार बहुत दिनों से जाँच-पड़ताल कर रहे हैं और अब तक इस अनुसंधान का निष्कर्ष यह है कि बिहारी अठारहवीं शताब्दी के मध्य में पैदा हुए। सतसई समाप्त करने की तारीख़ बिहारी ने सन् १८१७ ई० दी है। मुमकिन है उसके बाद कुछ दिन और ज़िन्दा रहे हों। अनुमान से मालूम होता है कि उन्होंने उम्र पाई। ग्वालियर के पास एक मौज़े में पैदा हुए। लड़कपन बुन्देलखंड में गुज़रा। मथुरा में उनकी शादी हुई थी। वहीं उम्र का ज़्यादा बड़ा हिस्सा गुज़रा। उनकी ज़बान ब्रज भाषा है मगर उसमें बुन्देलखंडी शब्द बहुत आये हैं, जिससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि उनका ब्रज और बुन्देलखंड दोनों ही से अवश्य संबंध था। जाति के चौबे ब्राह्मण थे। कुछ आलोचकों ने उन्हें भाट बताया है मगर इस विचार का समर्थन नहीं होता। अनुमानतः जिस ज़माने में सतसई खत्म हुई है उनकी उम्र साठ से कुछ ही कम थी मगर इतना ज़माना उन्होंने किस काम में खर्च किया इसका कुछ पता नहीं। संभव है दोहे लिखे हों मगर वह ज़माने के हाथों बर्बाद हो गये हों। बिहारी ख़ुशहाल न थे और इस जमाने के रिवाज के मुताबिक़ राजाओं और रईसों के दरबार में जीविका के लिए हाज़िर होना ज़रूरी था। मगर सतसई के पहले उनके किसी की सेवा में उपस्थित होने का पता नहीं चलता। उम्र का बहुत बड़ा हिस्सा अज्ञात रूप से काटने के बाद ये जयपुर पहुँचे। वहाँ उस वक़्त सवाई राजा जयसिंह गद्दी पर थे। दरबार के लोगों से महाराज की सेवा में अपना सलाम अर्ज़ कराने की दरख़्वास्त की। महाराज उन दिनों एक कमसिन छोकरी के प्रेम के जाल में बेतरह फँसे हुए थे। राज्य का काम-काज छोड़ बैठे थे। रनिवास में बैठे प्रेमिका की रूप-सुधा का पान किया करते। सैर व शिकार से नफ़रत थी। दरबारी महीनों उनकी सूरत न देख पाते। उन्होंने बिहारी से इस प्रसंग में अपनी असमर्थता प्रकट की। जब महाराज बाहर निकलते

ही नहीं तो सिफ़ारिश कौन करे और किससे करे। मगर बिहारी निराश न हुए। एक रोज़ उन्हें एक मालिन फूलों की एक टोकरी लिये महल में जाती हुई दिखाई पड़ी। उन्होंने सोचा कि ये फूल महाराज की सेज पर बिछाने के लिए जाते होंगे। उन्होंने फ़ौरन निम्नांकित दोहा लिखा और उसे मालिन की टोकरी में डाल दिया —

नहिं पराग नहि मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बिन्ध्यो आगे कौन हवाल॥

अर्थात् अभी न रस है न गंध है न फूल खिल पाया है। अभी वह एक बिनखिली कली है। अभी ही से इस तरह उलझ गये तो आगे क्या हालत होगी।

यह काग़ज़ का पुर्ज़ा महाराज के हाथ लगा, दोहा पढ़ा, आँख खुल गई। दरबारियों को तलब किया। लोग बड़े खुश हुए, चलो किसी तरह महाराज बरामद तो हुए। महाराज ने दरबार में वह दोहा पढ़ा और कहा, जिसने यह दोहा लिखा हो उसे फ़ौरन हाजिर करो। बिहारी ने आगे बढ़कर सलाम अर्ज़ किया। महाराज बहुत खुश हुए। बिहारी का बहुत स्वागत-सत्कार किया और कहा, मुझे अपनी कविता रोज़ सुनाया करो। बिहारी ने फ़रमाइश कुबूल की और रोज़ कुछ दोहे लिखकर महाराज को सुनाने लगे। महाराज के यहाँ यह पुर्ज़े नत्थी किये जाने लगे। कुछ दिनों बाद बिहारी को अपनी जन्मभूमि की याद आई। महाराज से छुट्टी माँगी। महाराज ने दोहों को गिनने का हुक्म दिया। सात-सौ से कुछ ज़्यादा निकले। महाराज ने सात सौ अशर्फ़ियाँ इनाम के तौर पर देकर बिहारी को रुखसत किया। आज की हालतों का खयाल कीजिये तो यह रक़म कम न थी। इसके लगभग बीस हज़ार रुपये होते हैं और उस ज़माने में एक रुपये की क़ीमत पाँच रुपये से कम न होगी। मगर वह ज़माना इतनी सस्ती क़द्रदानी का न था। आजकल तो मामूली जलसों में हमारे कवि की प्रतिभा चमक उठती है। और जंट साहब बहादुर नौशेरवाँ से मिला दिये जाते हैं। कहीं साहब कलक्टर बहादुर रुस्तम और इसफ़ंदियार से बढ़ा दिये जाते हैं मगर इसका बहुमूल्य पुरस्कार इसके सिवा और

कुछ नहीं कि जब हमारे कवि महोदय उन साहब की कोठी पर हाज़िर हों तो कमरे में से एक गुर्राती हुई आवाज़ सुनाई दे, "कुर्सी लाओ" और अगर किसी रईस के दस्तर्ख़ान पर मीठे लुक़्मे चखने की इज़्ज़त हासिल हो गई तब तो कवि जी की कल्पना आसमान के सितारों की खबर लाती है। शुक्र है कि इसी बहाने से हमारी कविता रोज़-ब-रोज़ भटई के दोष से मुक्त होती जाती है। मगर बिहारी के ज़माने में कवियों को उनके नैपुण्य के अनुसार इनाम-इकराम और जागीरें देने का आम रिवाज था। रईस अपनी क़द्रदानी में एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की कोशिश करते थे। भूषण को महाराज शिवाजी ने एक कवित्त के पुरस्कार-स्वरूप बीस हज़ार रुपये और पच्चीस हाथी दिये थे और अगर किंवदंतियों पर विश्वास किया जाये तो एक ही कवित्त के पुरस्कार-स्वरूप इसी देशभक्त राजा ने इस भाग्यशाली कवि को अठारह लाख रुपये दिये। वह इस कवित्त को सुनकर इतना खुश हुआ कि भूषण से उसे बार-बार पढ़ने की फ़रमाइश की। भूषण ने इसे अठारह बार पढ़ा मगर आखिरकार उन्नीसवीं बार उनके धीरज ने जवाब दे दिया। शिवाजी ने अठारह बार पढ़ने के लिए अठारह लाख रुपये दिये और अफ़सोस किया कि कवि ने इससे ज़्यादा धीरज से काम क्यों न लिया। पन्ना के महाराज छत्रसाल इन भूषण को कुछ इनाम देने के बाद उनकी पालकी को अपने कंधे पर उठाकर कई क़दम ले गये। इन क़द्रदानियों के मुक़ाबले में बिहारी को जो इनाम मिला वह इतना उत्साहवर्धक नहीं कहा जा सकता। ये मिसालें उस वक़्त ताज़ा थीं। बिहारी ने उनके चर्चे सुने थे। वह जयपुर से भग्न-हृदय लौटे। शायद यही कारण हो कि सतसई में सवाई जयसिंह की स्मृति में एक दोहा भी नहीं है। एक दोहा सिर्फ़ उनके शीशमहल की प्रशंसा में है। बल्कि दो दोहों में उन्होंने इशारे से जयसिंह की नाक़द्री की शिकायत भी की है हालांकि पाक निगाहें उनमें तारीफ़ ही देखती हैं। इस इनाम की बात अगर छोड़ भी दें तो बिहारी की वह आवभगत जयपुर में नहीं हुई जिसकी इतने क़द्रदाँ दरबार में उन्होंने उम्मीद की थी। भूषण ने राजा छत्रसाल के भक्तिपूर्ण कवि-सत्कार को शिवाजी की उदारता से श्रेष्ठतर

समझा था। कवि के मन में केवल धन-संपदा की हवस नहीं होती, उसमें प्रशंसा पाने की इच्छा भी होती है। यदि काव्यमर्मज्ञ की प्रशंसा के साथ उसका थोड़ा-सा व्यावहारिक सत्कार भी हो जाये तो वह प्रसन्न हो जाता है। मगर प्रशंसा के बिना क़ारूं का खज़ाना भी उसे खुश नहीं कर सकता। राजा छत्रसाल अभी जीवित थे। बिहारी जयपुर से निराश होकर इसी आदमियों के पारखी राजा के दरबार में पहुँचे और सतसई उनकी सेवा में उपस्थित करके योग्य प्रशंसा चाही। छत्रसाल खुद भी अच्छे कवि थे। दिल में उमंग थी। उनका दरबार सिद्धहस्त कवियों का केन्द्र बना हुआ था। इन कवियों ने सतसई को ग़ौर से देखा, परखा, तोला और बिहारी की कला के प्रशंसक हो गये। हालाँकि इसी दरबार में एक कवि ने द्वेषवश बिहारी को बुरा-भला भी कहा मगर उसकी कुछ नहीं चली। राजा साहब ने बिहारी को पाँच गाँव की जागीर दी। इस दरबार के स्वागत-सत्कार से बिहारी बहुत प्रसन्न हुए मगर वे तो यहाँ अपने काव्य की प्रशंसा पाने के उद्देश्य से आये थे, जागीर पाने के लिए नहीं। जागीर धन्यवाद के साथ लौटा दी। महाराज जयसिंह को भी इस घटना की खबर मिली। उनके त्याग पर वह बहुत प्रसन्न हुए, फिर उन्हें दरबार में बुलाया और पिछली भूलों के लिए माफ़ी चाहकर दो अच्छी आमदनी वाले मौज़े दिये। बिहारी ने उनको शुक्रिये के साथ कुबूल कर लिया। वह अब तक उनके उत्तराधिकारियों के अधिकार में हैं।

बिहारी का अब बुढ़ापा आ गया था। साठ से ऊपर हो गये थे। ज़्यादा सैर व सफ़र की ताक़त न थी। मथुरा लौट आये। यहाँ इन दिनों जोधपुर के महाराज जसवंत सिंह भी आये हुए थे। उन्होंने बहुत दिनों से बिहारी की तारीफ़ सुन रक्खी थी। उनसे मिलने के इच्छुक थे। खुद भी काव्यमर्मज्ञ थे, कविता पर एक मार्के की किताब भी लिखी थी जो आज तक कवियों में प्रामाणिक समझी जाती है। बिहारी को उनसे भेंट करने की कम उत्कंठा न होगी। महाराज ने उनके काव्य की प्रशंसा की, कहा — थारी कविता में सूलो लग्यो, यानी तुम्हारी कविता में कीड़े पड़ गये। बिहारी ने इस द्वयर्थक प्रशंसा को न समझा। घर चले आये, उदास

थे। उनकी लड़की समझदार थी। उदासी का कारण पूछा। बिहारी ने राजा जसवंत सिंह की वह पहेली उससे बयान की। लड़की उसका मतलब समझ गई, बोली महाराज का आशय यह है कि आपकी कविता में जान पड़ गई है। बिहारी को भी यह व्याख्या उचित जान पड़ी। महाराज जसवंत सिंह से जब दूसरे दिन जिक्र आया तो वह बहुत खुश हुए और बोले, हाँ मेरा यही आशय था। बिहारी के बारे में ज़्यादा और कुछ नहीं मालूम है, वह कब मरे कहाँ मरे। हाँ उनके एक बेटे थे जिनका नाम कृष्ण था। वह भी कवि हुए हैं।

बिहारी की कविता के कुछ नमूने ज़रूरी हैं हालाँकि उर्दू लिबास पहन कर उनकी शक्ल बहुत कुछ बदल जाती है। ग़ालिब के जीवन की तरह बिहारी सतसई के अर्थों के संबंध में टीकाकारों में अक्सर मतभेद है। उनके दोहे बहुत जटिल, कठिन और पेचीदा होते हैं। वह मोती हैं जो डूबने से हाथ आते हैं।

मानहुँ विधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबैं काज,
दृग पग पोंछन को किए, भूषन पायंदाज।

यहाँ बिहारी ने नाजुक-खयाली का कमाल दिखाया है, — यानी प्रकृति-रूपी कारीगर ने प्रेमिका के कोमल तन पर आभूषणों का पायंदाज़ बना दिया है ताकि निगाह के पाँव से उस पर गर्द न आ जाये। 'पायदाज़ उर्दू शब्द है, कवि ने उसका प्रयोग किया है। बिहारी अक्सर उर्दू, फारसी और अरबी शब्द लाते हैं और बड़ी खूबी से लाते हैं। मतलब यह है कि प्रेमिका का बदन इतना नाजुक और सुथरा है कि निगाहों से भी मैला हो जाता है, इसलिए ज़रूरी है कि जेवरों पर पैर साफ़ करके निगाह उसके रूप के साफ़ फ़र्श पर क़दम रक्खे। रूप की क्या स्वच्छता है जो दृष्टि पड़ने से मैली पड़ जाती है। 'पाये निगाह' ग़ालिब ने भी इस्तेमाल किया है। जेवर प्रेमिका के रूप को चमकाने के लिए नहीं बल्कि निगाहों के पैर की गर्द पोंछने के लिए। एक उर्दू शायर ने माशूक़ की नज़ाकत को इस रूप में कल्पना की है —

क्या नजाकत है कि आरिज उनके नीले पड़ गये।
मैंने तो बोसा लिया था ख्वाब में तस्वीर का।

कपूरमणि को उर्दू में कहरुवा कहते हैं अर्थात् प्रेमिका के गले में माला उसके शरीर के सोने-जैसे रंग में मिलकर कुछ पीलापन लिए कहरुवा हो जाती है। उसकी सहेली को धोखा होता है और वह घास के तिनके से उस माला को छूती है क्योंकि कहरुवा में घास खींचने का गुण होता है। वह सोचती है कि यह तो मोतियों की माला थी, कहरुवा क्योंकर हो गई। इस संदेह को दूर करने के लिए वह उसके खरियाई गुण की परीक्षा लेती है। अमीर लखनवी का एक शेर देखिये —

मुनकिरे यकरंगिये माशूक़ व आशिक़ थे जो लोग
देख लें क्या रंगे काहो कहरुबा मिलता नहीं
कहे जु बचन बियोगिनी बिरह बिकल अकुलाइ।
किये न को अंसुवा सहित, सुआ तिबोल सुनाइ॥

इस दोहे में कवि ने कल्पना की उड़ान को चोटी पर पहुँचा दिया है। उर्दू में शायद ही किसी शायर ने इस मज़मून को अदा किया हो। यानी प्रेमिका वियोग के दुख से बेचैन हो होकर अकेले में अपने दर्दभरे दिल से जो बातें करती है उसे पिंजड़े में बैठा हुआ तोता सुन लेता है और उसे वही दर्दनाक शब्द दुहराते सुनकर लोगों की आँखों में आँसू भर आते हैं। माशूक़ ने पर्दा डालने की कितनी कोशिश की मगर आखिर भेद खुल गया। इसमें कैसी सुकुमार कवि-कल्पना है और इस तोते के दुहराने में भी यह असर है कि सुननेवाले दिल को हाथों से थाम लेते हैं और रोने लगते हैं। इससे उसके दर्द का अंदाज़ा हो सकता है। फ़ारसी का एक मशहूर शेर है —

सब्ज़ खत्ते बखते सब्ज़् मरा कर्द असीर
दाम हमरंग ज़मीं बूद गिरफ़्तार शुदेम

सायब ने इस शेर के बदले अपना सारा दीवान देना चाहा था। बिहारी के इस दोहे में यही कोमल वास्तविकता और अपेक्षाकृत अधिक नर्मी है।

तच्यो आँच अब बिरह की, रह्यो प्रेम रस भींजि।
नैननु के मगु जलु बहै, हियौ पसीजि पसीजि ।।

इसी ख़याल को फ़ारसो शायर ने यूं अदा किया है —

चे मी पुरसी जे हाले मा दिले ग़मदीदा अत चूं शुद
दिलम शुद खूं व खूं शुद आब व आब अज़ चश्म बेरूं शुद

इस दोहे और फ़ारसी शेर में इतना सादृश्य है कि उसे टक्कर कहना चाहिए, क्योंकि दोनों कवि ऊँचे दर्जे के हैं और चोरी का संदेह किसी पर नहीं हो सकता।

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन मांह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाँहौ चाहति छाँह ।।

मतलब यह है कि जेठ की जलती हुई दुपहरी से घबराकर छाँह भी छाँह ढूँढ़ती फिरती है। इसलिए वह जंगल में और मकानों के अंदर छिपती फिरती है।

ऋतुओं पर भी बिहारी ने लिखा है। हेमन्त यानो पूस का यों ज़िक्र करते हैं —

आवत जात न जानिये, तेजहिं तजि सियरान,
घरहिं जंवाई लौं घट्यो खरो पूस दिनमान।

यानी जिस तरह घर जमाई की इज़्ज़त ससुराल में कुछ नहीं होती, उसके आने-जाने का कोई खयाल करता मालूम नहीं होता कि वह कब आता है और कब जाता है, उसी तरह पूस में दिन के जाने-आने को कोई खबर नहीं होती।

बरसात का जिक्र यों करता है —

हठ न हठीली करि सकै यहि पावस ऋतु पाइ।
आन गाँठ घुटि जाति ज्यों मान गाँठ छुटि जाइ ।।

यानी बर्षा ऋतु में रूठी हुई प्रेमिका भी हठ नहीं कर सकती। बरसात में रस्सी की गाँठ मज़बूत हो जाती है मगर हठ की गाँठ ढीली पड़ जाती है।

दूसरे बड़े कवियों की तरह बिहारी ने भी नेचर का और मानव

प्रकृति का बहुत गहरा अध्ययन किया था। विशेष रूप से सौन्दर्य और प्रेम की भावनाओं का जैसा सच्चा और सम्यक् चित्र उन्होंने खींचा है वह किसी दूसरे हिन्दी कवि के बस के बाहर है। मगर इस बाग़ीचे में इतने काँटे हैं कि किसी कवि का दामन काँटा लगे बग़ैर नहीं रह सकता। जब ग़ालिब जैसा सावधान व्यक्ति भी इन काँटों में उलझने से न बचा तो दूसरों का क्या जिक्र।*

* इस लेख में हिन्दी नवरत्न, बिहारी-बिहार और सतसई सिंगार से मदद ली गई है। यह आख़िरी लेख स्वर्गीय ज्वाला प्रसाद मिश्र की पुस्तक की बड़ी मनोरंजक समालोचना है जो सन् १९१२ में कई महीने तक क्रमशः 'सरस्वती' में निकली थी। इसके लिए लेखक इन सब विद्वानों का ऋणी है।

केशव

काव्य-मर्मज्ञों ने केशव को हिन्दी का तीसरा कवि माना है लेकिन केशव में वह उड़ान नहीं जो बिहारी की अपनी विशेषता है। तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण आदि कवियों ने विशेष शैलियों में अपनी सर्वोत्तम योग्यता लगाई। तुलसी भक्ति की तरफ़ झुके, सूरदास प्रेम की तरफ़, बिहारी ने प्रेम के रहस्यों में ग़ोता लगाया और भूषण बहादुरी के मैदान में झुके लेकिन केशव ने विशेष रूप से अपना कोई ढंग नहीं अख्तियार किया। वह सौन्दर्य और अध्यात्म और भक्ति, सभी रंगों की तरफ़ लपके और यही कारण है कि किसी रंग में चोटी पर न पहुँच सके। केशव में काव्य-कौशल कम न था और संभव है कि किसी एक रंग के पाबन्द रह कर वह दूसरे तुलसीदास बन सकते। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि वह आखिरी दम तक अपने को समझ न सके, अपने स्वभाव की थाह न पा सके और यह दृष्टि-दोष कुछ उन्हीं तक सीमित नहीं है। हमारे लेखकों और कलाकरों का बहुत बड़ा हिस्सा इस अज्ञान का शिकार पाया जाता है। अपने स्वाभाविक रंग को पहचानना आसान काम नहीं है। तो भी कविता के रंग की दृष्टि से केशव की रुचि सौन्दर्य और प्रेम की ओर ज़्यादा झुकी हुई दिखाई देती है। एक मौक़े पर अपने बुढ़ापे का रोना रोते हुए वह कहते हैं कि अब सुन्दरियाँ उन्हें प्रेम की आँखों से नहीं बल्कि आदर की दृष्टि से देखती हैं और उन्हें बाबा कह कर पुकारती हैं। मजे की बात यह है कि उनकी ख्याति प्रेम-विषयक काव्य पर नहीं बल्कि पद्य-बद्ध आख्यायिका लिखने पर आधारित है। 'रामचन्द्रिका' जो उनकी

सबसे ज़्यादा जानी-मानी कृति है शायद हिन्दी भाषा में तुलसीदास की रामायण के बाद सबसे अधिक लोकप्रिय पुस्तक है।

केशव तुलसीदास के समकालीन थे। उनका जन्म संवत् प्रामाणिक रूप से पता नहीं लेकिन अनुमान से सन् १५५२ के लगभग ठहरता है और मृत्यु संभवतः सन् १६१२ की है। सूरदास के देहान्त के समय केशव की अवस्था बारह साल थी। तुलसीदास का देहान्त सन् १६२५ में हुआ। इस हिसाब से केशव की मृत्यु बारह-तेरह साल पहले हुई। उनकी जन्म-भूमि ओरछा थी जो अब भी बुन्देलखंड की एक प्रसिद्ध रियासत है और उस ज़माने में तो सारा बुन्देलखंड ओरछा के अधीन था। अकबरी दरबार में ओरछा के राजा की खास इज़्ज़त थी। यह अकबर का काल था और ओरछा में राजा रामसिंह गद्दी पर थे। रामसिंह अकबर के दरबार में पहली क़तार में जगह पाते थे और ज़्यादातर आगरे में ही रहते थे। रियासत का प्रबन्ध इन्द्रजीत के योग्य हाथों में था। केशव इस राज्य के नमक खानेवालों में थे। उन्होंने अपनी कविता में जगह-जगह इन्द्रजीत की कृपा का गुणगान किया है। ओरछा बेतवा नदी के किनारे स्थित है। यह जमुना की एक सहयोगिनी नदी है जो हमीरपुर में जमुना से आकर मिल जाती है। अधिकतर पहाड़ी इलाकों से गुजरने के कारण इस नदी का पानी बहुत स्वच्छ और स्वाथ्यप्रद है और जहाँ कहीं वह घाटियों में होकर बही है वहाँ के दृश्य देखने योग्य हैं। केशव ने जगह-जगह बेतवा नदी की प्रशंसा की है।

इन्द्रजीत एक रसिक स्वभाव का राजा था। उसके प्रेम की पात्रियों में रायप्रवीन नाम की एक वेश्या थी। उसके सौन्दर्य की दूर-दूर तक चर्चा थी। वह कविता भी करती थी। अकबर ने भी उसकी तारीफ़ सुनी। देखने का शौक़ पैदा हुआ। इन्द्रजीत को हुक्म हुआ कि उसे हाज़िर करो। इन्द्रजीत दुविधा में पड़ा। आदेश का उल्लंघन करने का साहस न होता था। उस वक्त रायप्रवीन ने दरबार में जाकर अपना एक कवित्त पढ़ा जिसका आशय यह है कि आप राजनीति से परिचित हैं, मेरे लिए कोई ऐसी राह निकालिए कि आपकी आन भी बनी रहे और

मेरे सतीत्व में भी धब्बा न लगे —

जामे रहे प्रभु की प्रभुता अरु
मोर पतिव्रत भंग न होई ।

इस कवित्त ने इन्द्रजीत की हिम्मत मज़बूत कर दी । उसने रायप्रवीन को शाही दरबार में न भेजा । अकबर इस पर इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने इन्द्रजीत पर आज्ञा का उल्लंघन करने के अभियोग में एक करोड़ रुपया जुर्माना किया । मालूम नहीं यह किंवदंती कहाँ तक ठीक है । अकबर की कुल आमदनी उस वक़्त बीस करोड़ सालाना से ज़्यादा न थी । एक करोड़ की रक़म एक ऐसे जुर्म के लिए कल्पनातीत सज़ा कही जा सकती है । बहरहाल जुर्माना हुआ और इन्द्रजीत को किसी ऐसे वाणी-कुशल आदमी की ज़रूरत हुई जो अकबर से यह जुर्माना माफ़ करवा दे ।

इस काम के लिए केशव को चुना गया और वह आगरा पहुँचे । यहाँ राजा बीरबल अकबर के खास दरबारियों में थे जो उसके मिज़ाज को समझते थे । खुद भी सिद्धहस्त कवि थे और कवियों का सम्मान भी करते थे । केशव ने उनका दामन पकड़ा और उनकी स्तुति में एक कवित्त पढ़ा । बीरबल इससे इतना प्रसन्न हुए कि अकबर से सिफ़ारिश करके वह जुर्माना ही नहीं माफ़ करा दिया बल्कि छः लाख की हुन्डियाँ जो उनके जेब में थीं निकाल कर केशव को दे दीं । अगर यह किंवदंती सच है तो यह उस युग के उदार साहित्य-प्रेम का एक अनोखा उदाहरण है । कैसे दानी लोग थे जो एक-एक कवित्त पर लाखों लुटा देते थे । हम यह नहीं कहते कि यह दान उचित था या ऐसी बड़ी-बड़ी रक़में ज़्यादा अच्छे कामों में खर्च न की जा सकती थीं । लेकिन इससे कौन इन्कार कर सकता है कि वह बड़े जिगरे के लोग थे । अपव्यय के लिए बदनाम होना चाहते थे लेकिन कंजूसी की बदनामी गवारा न थी । केशव यहाँ से सफल लौटे तो ओरछा में उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ और वह राजदरबारियों में गिने जाने लगे । उधर रायप्रवीन ने भी अकबर के पास एक दोहा लिखकर भेजा जिससे उसकी गहरी सूझ-बूझ का प्रमाण मिलता है —

बिनती रायप्रवीन की सुनिए साह सुजान
जूठी पातर भखत हैं बारी बायस स्वान

यानी जूठी पत्तल बारी कुत्ते वगैरह खाते हैं। मेरी यह अर्ज़ कुबूल हो····इस दोहे का जो असर अकबर पर हुआ होगा उसका अनुमान किया जा सकता है। उसने फिर रायप्रवीन का नाम नहीं लिया।

केशव दास ने अपनी स्मृति-स्वरूप चार पुस्तकें छोड़ी हैं। इनमें दो को तो ज़माने ने भुला दिया लेकिन दो अब भी जानी जाती हैं—कविप्रिया और रामचन्द्रिका। कविप्रिया में कवि ने अपनी जिन्दगी के हालात और अपने उदार काव्य-मर्मज्ञ राजा के संबंध में लिखा है। इसके अलावा इसमें काव्य के अलंकारादि, काव्य की विभिन्न शैलियाँ, उसके गुण-दोष और प्राकृतिक दृश्यों पर भी अपनी लेखनी का चमत्कार दिखलाया है। कवि ने इस कृति पर अपनी सारी काव्य-शक्ति खर्च कर दी है और कई मौक़ों पर इसका बड़े गर्व के साथ उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि ऐसी पुस्तक लोकप्रिय नहीं हो सकती, लेकिन कवियों के समाज में उसे आज तक विशेष सम्मान प्राप्त है। नये कवियों के लिए तो उसका अध्ययन आवश्यक समझा जाता है। सच तो यह है कि इस किताब ने केशव की गिनती उस्तादों में करा दी है। लेखक बहुत बार अपनी पुस्तक का स्थान उसमें लगे हुए अपने परिश्रम के अनुसार निश्चित करता है और चूंकि ऐसी पांडित्यपूर्ण पुस्तकों में कवि अधिकत र दूसरे कवियों को ही संबोधित करता है इसलिए उसे क़दम-क़दम पर सँभलने की जरूरत होतो है कि कहीं उसका उस्तादी का दावा उपहासास्पद न बन जाय। कवि बड़ी गंभोर और पैंनी दृष्टि से उसके दावे की जाँच-पड़ताल करते हैं और उसके गुणों को चाहे एक बार आँख की ओट कर भी दें लेकिन दोषों को हरगिज नहीं छोड़ते। वह देखते हैं कि जिन सिद्धांतों की यहाँ स्थापना की गई है उनका पालन भी हुआ है या नहीं। अगर कवि इस कसौटी पर ठीक न उतरा तो वह गर्दन मार देने के क़ाबिल करार दिया जाता है। सब दरबारों में रिश्वत चलती है लेकिन कवियों के दरबार में रिश्वत का गुज़र नहीं। यह अदालत कभी रहम करने की गलती नहीं

करती। इस दरबार ने लोकप्रियता को परखा और तोला और केशव दास को भाषा के कवियों की उस मंडली में तीसरी जगह दे दी जिसमें पहला स्थान सूर का और दूसरा तुलसी का है।

लेकिन जैसा हम कह चुके हैं 'कविप्रिया' की ख्याति विशेष लोगों तक ही सीमित है। साधारण लोगों में उन्हें जो लोकप्रियता प्राप्त है वह उनकी अमरकृति 'रामचन्द्रिका' का प्रसाद है। इसमें रामचन्द्र जी की कथा लिखी गई है मगर केशव ने राम को अवतार मानकर और खुद उनका सच्चा भक्त बनकर अपने को बिलकुल बेज़बान नहीं कर दिया है। उन्होंने तुलसीदास के मुक़ाबले में ज़्यादा आज़ादी से काम लिया है और जहाँ कहीं रामचंद्र या किसी दूसरे कैरेक्टर में उन्हें कोई दोष दिखाई पड़ा है तो उन्होंने उसे गुण बना कर दिखाने की कोशिश नहीं की बल्कि स्पष्ट शब्दों में उस पर आपत्ति की है। तुलसीदास ने रावण के साथ अन्याय किया है और उसे एक मनस्वी, प्रतिष्ठित और स्वाभिमानी राजा के पद से गिराकर घृणा का पात्र बना दिया है, हालाँकि उसे इस तरह से अपमानित करने के बाद भी वह रावण का कोई ऐसा आचरण न दिखा सके जो इस घृणा की पुष्टि करता। रावण ने अगर कोई पाप किया तो यह कि उसने रामचंद्र को मनुष्येतर प्राणी समझकर उनके सामने सिर नहीं झुकाया। विभीषण रावण का छोटा भाई था। संभव है वह भगवान से डरने वाला और नेम-धरम का पक्का रहा हो, संभव है उसे रावण का राज्य-संचालन और उसका आचरण न भाता हो लेकिन यह इसके लिए काफ़ी कारण नहीं है कि वह अपने भाई के दुश्मन से जा मिले और घर का भेदी बनकर लंका ढाये। उसका यह कार्य राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यंत घृणित है। तुलसीदास ने उसे आस्तीन के साँप के बदले भक्त बनाकर दिखाना चाहा है लेकिन बावजूद वह सब रंग चढ़ाने के जैसा कि एक कवि करता है, वह उसे सिर्फ़ बगुला भगत बनाने में सफल हुए हैं। हिन्दुस्तान के लिए जयचंद ने जो किया, राजपूताने के लिए समरसिंह ने जो किया, दारा के लिए सरहंगों ने जो किया वही विभीषण ने रावण के साथ किया। रामचन्द्र के हाथों ऐसे शैतान की वही दुर्गत होनी

चाहिए थी जो सिकन्दर के हाथों सरहंगों की हुई थी लेकिन रामचंद्र ने उसे राजगद्दी और मुकुट देकर जैसे देशद्रोह और परिवार-हत्या को बढ़ावा दिया है। जिस कथा को सारी जाति धार्मिक विश्वास की दृष्टि से देखती हो उसमें ऐसे कमीने नीच आचरण को दंड न देना एक अत्यंत खेदजनक दोष है। हिन्दुस्तान का इतिहास देशद्रोह और विश्वासघात से भरा हुआ है लेकिन क्या अजब है विभीषण को उचित दंड देना इन गुमराहियों में से कुछ को दूर कर सकता। आज अगर इंगलिस्तान की पार्लियामेन्ट का कोई मेम्बर न्याय और नैतिकता के आधार पर किसी ऐसी बात का समर्थन करता है जिसमें इंगलिस्तान को नुकसान पहुँचने का डर हो तो उस पर चारों तरफ़ से घृणा की बौछार पड़ने लगती है। यह देश प्रेम का युग है, जब वैयक्तिक और पारिवारिक स्वार्थ को देश पर बलिदान कर दिया जाता है। आश्चर्य यह है कि संस्कृत कवियों ने भी विभीषण की कुछ खबर न ली और यह सेहरा केशवदास के लिए छोड़ दिया। केशव एक राजा के दरबारी थे, शाही दरबारों के अदब-क़ायदे से परिचित, देशप्रेम का महत्व समझने वाले अतः उन्होंने रामचन्द्र के बड़े बेटे लव की ज़बान से विभीषण को खूब खरी-खरी सुनाई है। जब रामचन्द्र अपना दल सजाकर लव के मुक़ाबले में चले तो विभीषण भी उनके साथ था। लव ने उसे देखकर खूब आड़े हाथों लिया — "अत्याचारी ! परिवार को कलंकित करने वाला ! अगर तुझे रावण का आचरण पसंद न था तो जिस समय रावण रामचन्द्र जी की पत्नी को हर लाया था उसी समय तू रावण को छोड़कर क्यों राम के पास नहीं चला आया ! तुझे धिक्कार है ! तू ज़हर क्यों नहीं पी लेता ! जा कर चुल्लू भर पानी में डूब क्यों नहीं मरता ! तुझे अब भी शरम नहीं आती कि तू हथियार बाँधकर लड़ने निकला है ! पापी, तुझे अपनी भावज को ब्याहते शर्म न आयी जिसे तूने कितनी ही बार माँ कह कर पुकारा होगा !"

संस्कृत में पद्य-बद्ध आख्यायिका लिखने की दो पद्धतियाँ हैं। एक में तो कवि की दृष्टि अपनी कथा पर रहती है, वह कथा को प्रधान समझता है और अलंकारों को गौण। दूसरे रंग में कवि की दृष्टि अलंकारों आदि

पर रहती है, कथा को वह केवल अपने काव्य-कौशल और रचना-चातुर्य का एक साधन बना लेता है। पहली पद्धति वाल्मीकि और व्यास की है और दूसरी पद्धति कालिदास और भवभूति की। तुलसीदास ने पहली पद्धति अपनाई, केशव ने दूसरी पद्धति को पसंद किया और अपने काव्य चातुर्य की दृष्टि से उनका यह चुनाव शायद अच्छा रहा क्योंकि उनमें वह कविजनोचित कोमलता और वह गहरी संवेदनशीलता न थी जिसने तुलसीदास की कविता को सदाबहार फूल बना रक्खा है। इस कमी को पूरा करने के लिए काव्यशिल्प और अलंकार की आवश्यकता थी। यही कारण है कि केशवदास की कविता काफ़ी कठिन है लेकिन उसके कठिन होने का एक कारण यह और हो सकता है कि उस समय तक हिन्दी भाषा प्रौढ़ नहीं हुई थी। विद्वानों की मण्डली में संस्कृत की चर्चा थी, बिलकुल उसी तरह जैसे सौदा के ज़माने में फ़ारसी की। अतः तुलसीदास और केशव दोनों भाषा में कविता करते हुए झेंपते थे और इस डर से कि कहीं उनका भाषा प्रेम संस्कृत का अल्प-ज्ञान न समझ लिया जाये वे समय-समय पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन आवश्यक समझते थे। उन्हें अपने पांडित्य के प्रमाण देने के लिए दुरूह शब्द का प्रयोग उचित जान पड़ता था। तुलसीदास चूंकि वैरागी थे उन्हें किसी की प्रशंसा या निन्दा की परवाह न थी लेकिन केशव एक राजा के दरबारी थे। बड़े-बड़े पंडितों से हमेशा उनकी मुठभेड़ रहती थी इसलिए उनका दुरूह शब्दों का प्रेम स्वाभाविक था।

केशव धार्मिक मामलों में लकीर के फ़क़ीर न थे, अंधविश्वासों को मुक्ति का साधन न समझते थे। नदी में नहाने और मूर्ति-पूजा को वे मूर्खों की रस्म समझते थे। वह एकेश्वरवाद के अनुयायी थे और केवल एक परमात्मा की पूजा करने के लिए कहते थे। देवताओं को उन्होंने कृत्रिम और आडंबरपूर्ण कहा है। लेकिन इसके साथ ही जनसाधारण के लिए एकेश्वरवाद या चरित्र-शुद्धि या आत्मविवेक की आवश्यकता नहीं समझी। उनके लिए केवल परमात्मा के नाम का स्मरण काफ़ी बतलाया है। स्त्रियों के लिए पातिव्रत मुख्य धर्म बतलाया है जो प्राचीन हिन्दू

समाज का एक विशेष अंग है और यद्यपि अब ज़माने ने सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में एक उथल-पुथल मचा दी है और स्त्री का व्यक्तित्व अपने पति में खोया हुआ न रह कर अलग एक सत्ता बन चुका है। स्त्रियों के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक अधिकार पेश हो रहे हैं, तो भी वह पुरानी व्यवस्था भी अपने अच्छे पहलुओं से ख़ाली न थी और अभी जबकि नई व्यवस्था प्रयोग की दशा में है वह पुराना सिद्धान्त शताब्दियों तक प्रचलित रहा। उसमें अब भी कुछ ऐसे गुण हैं जिनसे बड़े से बड़ा, कट्टर से कट्टर सफ़रेजिस्ट भी इन्कार नहीं कर सकता। इसलिए हम इस मामले में केशव को दोषी नहीं समझते।

इसमें कोई संदेह नहीं कि केशवदास भाषा की पहली पंक्ति के बैठने-वालों में हैं लेकिन उनके स्वभाव में उन्मेष से अधिक साधना का रंग है। वह ग़ालिब या मीर न थे। वह नासिख़ और अमीर थे। उनकी कविता में आडंबर और खींचतान ज़्यादा है, कोमलता और संवेदनशीलता कम। तो भी उनकी कविता मिठास से ख़ाली नहीं है। कहीं-कहीं इस रंग में उन्होंने चमत्कार कर दिखाया है।

पद्य-बद्ध आख्यायिकायें लगभग सभी भाषाओं में एक ही छंद में लिखी जाती हैं। तुलसीकृत रामायण, सिकन्दरनामा, शाहनामा, मौलाना रूम की मसनवी, पैराडाइज़ लास्ट, इलियड आदि प्रसिद्ध आख्यायिकायें इसी ढंग की हैं। लेकिन केशवदास ने रामचन्द्रिका में सैकड़ों छंदों का प्रयोग किया है और कहीं-कहीं इस तेज़ी से कि आख्यायिका के प्रवाह में फ़र्क़ नहीं आता। कुछ आलोचकों का विचार है कि यह विभिन्नता पुनरावृत्ति की निषेधक होने के कारण बहुत सुन्दर हो गयी है। लेकिन यह कुछ ज़्यादती है। दुनिया की बड़ी-बड़ी मसनवियाँ एक ही छंद में लिखी गई हैं। हाँ, कहीं-कहीं कवियों ने मज़ा बदलने के लिए भिन्न-भिन्न छंदों का प्रयोग किया है। तुलसीदास की रामायण इसकी अनूठी मिसाल है। शायद केशव ने एक ही छंद की मसनवी या पद्य-बद्ध आख्यायिका लिखकर इस रंग में तुलसी से टक्कर लेना अपने लिए अहितकर समझा। इससे विभिन्नता का आनन्द नहीं आता, कथा के प्रवाह में अलबत्ता रुकावट

होती है ।

हमने विभीषण की ग़द्दारी का ज़िक्र ऊपर किया है । इसके मुक़ाबले में केशव ने अंगद की वफ़ादारी और सदाचारिता को खूब दिखाया है । अंगद बालि का बेटा था । बालि का रामचंद्र ने वध किया था और उसका राज-पाट बालि के भाई सुग्रीव को दिया था । इसलिए अंगद का अपने बाप के हत्यारे से द्वेष रखना एक स्वाभाविक बात थी । लेकिन जब वह रावण के दरबार में गया है और उसने राम के इस कृत्य का संकेत देकर अंगद को फोड़ना चाहा है तो अंगद ने रावण को खूब करारे जवाब दिये हैं । कवि ने उसकी सदाचारिता दिखलाने के उत्साह में पद के सम्मान की रक्षा का भी ध्यान नहीं रक्खा । अंगद के हृदय में द्वेष था और ग़रूर था । आखिर में उसने उसको व्यक्त भी किया है लेकिन जिससे एक बार एकता का संबंध स्थापित कर लिया उससे दुश्मन के भड़कावे में आकर विमुख हो जाना मर्दानगी के खिलाफ़ था ।

अब हम पाठकों के मनोरंजन के लिए केशवदास की कविता के नमूने पेश करते हैं —

सब जाति कटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहं एक घटी
निघटी रुचि मीचु घटी घटीहु जग जीवन जतीन की छूटि तटी

कवि ने पंचवटी का परिचय दिया है । कहता है यहाँ दुख और कष्ट की चादर तार-तार हो जाती है और दिल दग़ा व फ़रेब से मुक्त हो जाता है । उसके मोहक आकर्षणों से यतियों का ध्यान भी भंग हो जाता है ।

कहि केशव याचक के अरि चंपक शोक अशोक किये हरि कै ।
लखि केतक केतकि जाति गुलाब ते तीछण जानि तजे डरि कै ॥
सुनि साधु तुम्हें हम बूझन आये रहे मन मौन कहा धरि कै ।
सिय को कछ सोध कहौ करुणामय हे करुणा-करुणा करि कै ॥

रावण सीता को हर ले गया है और राम वियोग के उद्वेग में जंगल के पेड़ों से सीता का पता पूछते फिरते हैं । वह करुणा के वृक्ष को संबोधित करके कहते हैं — चंपा भौंरे को अपने पास नहीं आने देती

इसलिए उसमें दर्द नहीं है। अशोक ने शोक को भुला दिया है इसलिए उसमें भी दर्द नहीं। केवड़ा, केतकी और गुलाब कँटीले हैं और दिल के दर्द का हाल नहीं जानते इसलिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ, कुछ सीता की खबर बताओ, खामोश क्यों खड़े हो।

दीरघ दरीन बसैं केसोदास केसरी ज्यौं,
केसरी कौं देखि बन-करी ज्यौं कंपत हैं।
बासर की संपति उलूक ज्यौं न चितवत,
चकवा ज्यौं चंद चितै चौगुनो चँपत हैं।
केका सुनि व्याल ज्यौं बिलात जात घनश्याम,
घनन की घोरनि जवासो ज्यौं तपत हैं।
भौंर ज्यौं भँवत बन जोगी ज्यौं जपत रैनि,
साकत ज्यौं राम नाम तेरोई जपत हैं।

हनुमान लंका में सीता जी को देखने गये हैं और उन्हें अशोकवाटिका में देखकर उनसे रामचंद्र के वियोग की पीड़ा का यों वर्णन करते हैं — जैसे घने जङ्गल में शेर रहता है उसी तरह रामचंद्र रहते हैं यानी ज़मीन पर सोते-बैठते हैं। आराम की ज़रा भी इच्छा नहीं। जैसे उल्लू दिन की रोशनी के नेमतों की ओर आँख उठाकर नहीं देखता उसी तरह रामचंद्र किसी चीज़ की तरफ़ नहीं देखते। जैसे चकोर चाँद को देखकर अधीर हो जाता है उसी तरह चाँद को देखकर रामचंद्र के दिल की बेचैनी भी बढ़ जाती है। मोर की आवाज़ सुनकर जैसे साँप छिप जाता है उसी तरह रामचंद्र छिप जाते हैं। वर्षा से जैसे मदार का पेड़ जल जाता है उसी तरह रामचंद्र घुलते हैं। भौंरे की तरह इधर-उधर घूमा करते हैं, जोगी की तरह रात को जागते हैं और तेरे ही नाम की रट लगाते हैं।

दन्तावलि कुन्द समान गनो।
चंद्रानन कुन्तल चौंर घनो॥
भौंहें धनु खंजन नैन मनो।
राजीवनि ज्यों पद पानि भनो॥

हारावलि नीरज हिय-पट में।
हैं लीन पयोधर अम्बर में॥
पाटीर जोन्हाइहि अंग धरे।
हंसी गति केशव चित्त हरे॥

कवि ने शरद ऋतु की एक कल्पना की है। इस ऋतु में कुन्द खिलता है। ये गोया उस सुन्दरी के दाँत हैं। चाँद उसका काँतिमान मुखड़ा है। इस ऋतु में चाँद बहुत प्रकाशवाला होता है। राजा लोग इन्हीं दिनों पूजा करके दरबार को सजाते हैं। दरबार के चँवर इस सुन्दरी के बाल हैं। उनके कमान उसकी भौंहें हैं। खंजन पक्षी इस ऋतु में आता है। वह इस सुन्दरी की आँख है। (कवियों ने आँख की उपमा खंजन से दी है।) इस मौसम में कमल खिलते हैं। वह इस सुन्दरी के पाँव हैं। स्वाति की बूंद से मोती बन जाता है, ऐसी कवि प्रसिद्धि है। यह गोया इस सुन्दरी के हार हैं। इस मौसम में बादल आसमान में मिल जाता है कि जैसे सुन्दरी ने अपना दमकता हुआ वक्ष कपड़े में छिपा लिया है। इन दिनों चाँदनी खूब निखरती है। यह गोया इस सुन्दरी के लिए चंदन का लेप है। इस ऋतु में हंस आते हैं। ये गोया इस सुन्दरी की मस्तानी चाल हैं। इन गुणों वाली सुन्दरी अर्थात् शरद ऋतु दिलों को बस में कर लेती है।